प्रेमचंद :
व्यक्ति और साहित्यकार

मन्मथनाथ गुप्त

सरस्वती प्रेस

इलाहाबाद वाराणसी लखनऊ दिल्ली जयपुर

सरस्वती प्रेस
५ सरदार पटेल मार्ग, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित

मूल्य : बारह रुपये

मुद्रक : यू० पी० प्रिंटिंग प्रेस, ४२, एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद ।

सूची

भूमिका

लगभग एक युग पहले मैंने प्रेमचंद पर एक अध्ययन प्रस्तुत किया था, पर उसके बाद हिंदी उपन्यास, साथ ही प्रेमचंद पर शोध बहुत आगे बढ़ चुके हैं। इसलिए यह नया ग्रंथ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें पुराने ग्रंथ की बहुत-सी बातें ले ली गयी हैं। आशा है, इस नये रूप में प्रेमचंद पर मेरा यह अध्ययन अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

साधारणतः सभी अध्ययनों में प्रेमचंद साहित्य को दो युगों में विभक्त कर के दिखाया जाता है, पर इसमें मैंने यह दिखलाया है कि प्रेमचंद साहित्य एक और अविभाज्य है। वह प्रारंभ से ही वस्तुवादी थे और वस्तुवाद की बदौलत वह बढ़ते-बढ़ते इस नतीजे पर पहुँचे कि केवल आदर्शवादी विचार-धारा से समाज को बदलना संभव नहीं है।

मेरा प्रेमचंद संबंधी पहला अध्ययन श्री रमेन्द्र नाथ वर्मा के सहयोग से प्रस्तुत किया गया था। मैं जेल में बोलता जाता था और वे लिखते जाते थे। इसलिए यह उचित ही है कि इस ग्रंथ में, जिसमें पहले ग्रंथ की बहुत-सी बातें एक हद तक अपना ली गयी हैं, उन्हें धन्यवाद दूँ।

१६०, खैबर पास हास्टल,
दिल्ली — ८

मन्मथनाथ गुप्त

प्रेमचंद के पहले कथा-साहित्य

आज हम जिसे उपन्यास कहते हैं, वह आधुनिक युग की उपज है, पर जैसे मनुष्य की वंशावली खोजते-खोजते हम आदिम प्राणियों तक पहुँच सकते हैं, उसी प्रकार कथा-साहित्य की वंशावली भी बहुत पुरानी है। सब से प्राचीन साहित्य वेदों में भी किसी न किसी रूप में कुछ कहानियाँ मौजूद हैं। इस प्रकार की कहानियों में पुरुरवा और उर्वशी तथा यम और यमी की कहानियों का उदाहरण के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। उपनिषद् काल में याज्ञवल्क्य और गार्गी, सत्यकाम और जाबालि, अहिल्या और इन्द्र की कहानियों की धूम थी। पर ये कहानियाँ केवल कहानियाँ ही हों ऐसी बात नहीं, उनमें इतिहास का कुछ न कुछ तत्त्व निहित है। यम और यमी की कथा में तो सामाजिक विकास के एक मोड़ का भी परिचय मिलता है।

इसके बाद जब हम रामायण, महाभारत तथा बौद्ध धर्मशास्त्रों के युग में आते हैं, तो हमें यह मालूम होता है कि इसमें हजारों कहानियाँ बिखरी हुई हैं। आज यह हिसाब लगाना संभव नहीं है कि महाभारत, रामायण तथा बौद्ध जातकों की कथाओं का प्रचार किस हद तक धार्मिक कारणों से हुआ और किस हद तक उनमें मौजूद कहानियों के कहानीत्व के कारण हुआ। धार्मिक जनता के लिए ये कहानियाँ पवित्र इतिहास का रूप धारण किये हुए हैं, पर साथ ही उनकी रोचकता के कारण उनका प्रचार हुआ। हमारा प्राचीनतम साहित्य कहानियों के तत्त्व में इतना समृद्ध है कि भारतवासी सचमुच उस पर गर्व कर सकते हैं। अवश्य उस युग की कहानियों में हमारी वे मनोवृत्तियाँ तृप्त नहीं होतीं, जो आधुनिक उपन्यासों के पढ़ने से होती हैं क्योंकि उनमें अक्सर मनोविज्ञान का निर्वाह नहीं किया गया है, धार्मिक रूप से कहानी को उपयोगी बनाने के लिए जहाँ-तहाँ आकस्मिक धक्के दिये गये हैं।

कहानी सुनने की प्रवृत्ति में उम्र के अनुसार कई प्रकार की प्रवृत्तियों की

तृप्ति का प्रश्न सामने आता है। उदाहरण स्वरूप छोटे बच्चे परियों, देवताओं, राक्षसों, उड़नेवाले घोड़ों आदि अलौकिक बातों को पसन्द करते हैं। और बच्चे ही क्यों, जो लोग उम्र बढ़ने पर भी बच्चों की मन:स्थिति में रह जाते हैं यानी जो लोग सांस्कृतिक तथा अन्य दृष्टियों से बच्चे ही बने रहते हैं, उनको ऐसी कहानियाँ पसंद आती हैं, जिनमें अलौकिक तथा तिलस्मी घटनाएँ हों। वे वास्तविकता की तपिश सहने के बजाय हवाओं में उड़ना ज्यादा आसान पाते हैं।

जो कुछ भी हो, रामायण, महाभारत, कथा सरित्सागर, दशकुमार चरित, कादंबरी आदि कितनी ही कहानियाँ प्राचीन संस्कृत-साहित्य में मौजूद हैं। इन कहानियों में विविधता और रोचकता इतनी अधिक मात्रा में मौजूद है कि हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि संसार के कहानी-साहित्य में (अवश्य प्राचीन अर्थ में) भारत का स्थान सबसे ऊँचा है।

कहाँ तक उपन्यास पश्चिम की देन

यह भी कहा गया है कि उपन्यास यूरोप की देन नहीं है और हमारा उपन्यास-साहित्य भारत के प्राचीन कथा-साहित्य का ही विकसित रूप है। इस कथन, बल्कि दावे पर विचार करने के पहले हम यह देख लें कि ऐसे लोगों का क्या कहना है।

श्री ब्रजरत्नदास लिखते हैं कि 'हमारे यहाँ जो प्रेमाख्यान प्रचलित थे, उन्हीं के क्रमिक विकास तथा अन्य-देशीय प्रभाव को लेते हुए वर्तमान काल के उपन्यास साहित्य ने उत्कर्ष प्राप्त किया है। यह कथन कि उपन्यास यूरोप की देन है, भ्रामक मात्र है। कथा सरित्सागर में अलिफ लैला की कई कहानियों का मूल रूप मिलता है। कादंबरी की कथावस्तु तथा उसके वर्णन इतने मनोरम हुए हैं कि आज तक उसके जोड़ का दूसरा उपन्यास नहीं बन सका है। यह प्रायः देश-काल निरपेक्ष उपन्यास हो उठा है और कवि की अद्भुत शक्ति के कारण यह उपन्यास ऐसा सजीव हो गया है कि इसे किसी देश या काल में घटित हुआ समझा जा सकता है। इसमें वस्तुओं के क्रियाकलाप, भावों के उन्मेष आदि का ऐसा अद्भुत तथा आकर्षक वर्णन किया गया है कि वह घटनापूर्ण उपन्यासों से भी कहीं अधिक प्रभावशाली हो गया है। उपदेश मात्र भी जहाँ दिये गये हैं वे भी रससिक्त हो उठे हैं। वियोग-संयोग, सुख-दुख

आदि के वर्णन पाश्चात्य शैली पर संघर्ष रूप में न कर सहयोगी के समान किये गये हैं। यह उपन्यास अपने ढंग का एक ही है, पर अब वर्तमान काल में जो ढंग स्वीकृत हुआ है, यह बहुत कुछ अभारतीय हो गया है।'

पद्यबद्ध उपन्यास

उक्त लेखक ने अपने कथन के समर्थन में कुछ विशेष आख्यानों को गिनाया है। उन पर हम बाद को आते हैं, पर उनके एक कथन को और भी देख लिया जाय। हमारा प्राचीन साहित्य मुख्यतः पद्यों में उपलब्ध है तो क्या पद्यबद्ध कथानकों को वर्तमान उपन्यास-साहित्य का पूर्वज माना जा सकता है। इस पर वे लिखते हैं—'यदि केवल पद्य में होने के कारण सभी साहित्य काव्य के अंतर्गत मान लिया जाय, तब यही कहना पड़ेगा कि दो शती पहले काव्य के सिवा अन्य किसी विषय का साहित्य प्रस्तुत ही नहीं हो सका। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। धर्मशास्त्र, इतिहास, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि सभी विषयों पर प्रचुर साहित्य प्राप्त है, पर सभी पद्य में है, अतः पद्य या गद्य में होने से सभी काव्य-साहित्य के अंतर्गत नहीं चले जाते। मुद्रण के अभाव में हस्तलिखित प्रतियों के बहुव्यय साध्य होने से तथा ऐसे ही अन्य कारणों से अधिकतर यही सुविधाजनक था कि लोग रचनाओं को कंठाग्र कर लिया करें और इसके लिए पद्य ही अधिक सरल पड़ता था। यही स्थिति प्रायः डेढ़-दो शती पहले तक बराबर बनी रही। इसलिए सभी पद्य रचनाओं को केवल पद्य में होने के कारण काव्य-ग्रंथ न समझ लेना चाहिए, प्रत्युत यह देखना चाहिए कि वह किस विषय को लेकर लिखी गयी है। यदि चंद्रकांता को कोई दोहे-चौपाई में लिख डाले तो वह महाकाव्य नहीं हो जायगा, वह कहानी-साहित्य ही के अन्तर्गत रहेगा। इस कारण केवल कविता में होने के कारण हमें उस कथा-साहित्य को उसके इतिहास में स्थान न देना अनुचित ही नहीं होगा, अज्ञानता भी होगी। इसलिए कथा-साहित्य के इतिहास में उन आख्यानकों को भी स्थान दिया जाना चाहिए, जो कविताबद्ध हों।'

क्या ये उपन्यास थे ?

अपने तर्क को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कुछ प्राचीन ग्रंथों का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—

ललित विस्तर (काल लगभग १ शताब्दी ई० पू०) में बुद्ध के जीवन संबंधी अनेक कथाएँ अतिरंजित रूप में हैं। इसमें असित, बिंबसार की कथाएँ हैं और बुद्ध-मार संवाद है, जो बहुत प्राचीन है। गुणाढ्य रचित वृहत्कथा (काल लगभग प्रथम शताब्दी ई०) के संबंध में कहा गया है कि इसी के आधार पर बाद को वृहत्कथा मंजरी, कथा सरित्सागर, हरचरितचिन्तामणि आदि ग्रंथ रचे गये। मूल ग्रंथ जो पैशाची भाषा में था, अब अप्राप्य है। मातृचेट ने संस्कृत में कई ग्रंथ लिखे और बोधिसत्व की कहानी लिखी। इनके ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ अश्वघोष के नाटकों के साथ तुरफान में प्राप्त हुई थीं। विष्णु शर्मा ने दक्षिण के कुछ राजपुत्रों को शिक्षा देने के लिए पंचतंत्र (काल लगभग द्वितीय शताब्दी ई०) की रचना की। इस पुस्तक का अनुवाद ५७० ई० में ईरान के शाह नौशेरवाँ ने प्राचीन ईरानी भाषा में कराया था। यह अनुवाद अप्राप्य है, पर उससे अरबी आदि भाषाओं में किये गये अनुवाद मिलते हैं। जातकों में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं। बाणभट्ट को 'कादंबरो' सातवों शताब्दो को रचना है। इस संबंध में यह ध्यान योग्य है कि मराठी में उपन्यास शब्द के लिए कादंबरी शब्द ही प्रयोग में आता है। श्री ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि इसकी मूल कहानी वृहत्कथा से ली गयी है, पर कवि ने वर्णन का विस्तार कर इसका आकार बहुत बढ़ा दिया है। हितोपदेश की रचना दसवीं शताब्दी में हुई। इसके रचयिता नारायण नामक बंगाल निवासी विद्वान् थे। हितोपदेश में पंचतंत्र की बहुत सी कहानियाँ आ जाती हैं। इसी प्रकार (१) दिगंबर जैन भिक्षु वादीभ सिंह का गद्य चिंतामणि, (२) क्षेमेन्द्र की वृहत्कथा मंजरो, (३) काश्मीर निवासी सोमदेव (काल लगभग एकादश शताब्दी ई०) रचित कथा सरित्सागर, (४) किसी जैन कवि द्वारा रचित शुक सप्तती (लगभग बारहवीं शताब्दी ई०), (५) विद्यापति की पुरुष परीक्षा (१५ वीं शताब्दी ई०), (६) वल्लाल का 'भोज प्रबंध' आदि कई ग्रंथ विशेष रूप से इस संबंध में उल्लिखित हैं।

यही तर्क पाश्चात्य साहित्य पर लागू

इसमें संदेह नहीं कि श्री ब्रजरत्नदास ने एक वकील की तरह अपना मुकदमा बहुत अच्छी तरह प्रस्तुत किया है, पर ऐसे तो यूरोपीय साहित्य में भो बुक्काशियो से आधुनिक उपन्यास-साहित्य का आरंभ न कर मजे में बाइबिल

या उससे भी पहले की ग्रीक तथा स्कैंडीनेवियायी दंतकथाओं को आधुनिक उपन्यासों का पूर्वज माना जा सकता है। आधुनिक उपन्यासों में और प्राचीन आख्यानों तथा आख्यायिकाओं में कुछ आधारभूत अंतर है। यहाँ तक कि जिन आधुनिक उपन्यासों में तिलस्मी घटनाओं का उल्लेख मिलता है वे भी धार्मिक साहित्य में होनेवाली अलौकिक घटनाओं से इस अर्थ में भिन्न हैं कि आधुनिक तिलस्मी उपन्यासों में व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ाने के लिए ही अलौकिक घटनाओं की कल्पना की गयी है, जबकि प्राचीन कथाओं में अलौकिक घटनाएँ मनुष्य की अकिंचनता सिद्ध करने के लिए लायी गयी हैं।

कुछ अप्रासंगिक होते हुए भी यह एक मजेदार प्रश्न है कि जब धर्मों का प्रभाव घट जायेगा (आधी दुनिया में तो धर्मों का प्रभाव बिलकुल खतम हो गया है) तब हमारे रामायण, महाभारत, जातकों आदि में एकत्रित कथाओं का क्या हश्र होगा। इस पर हम इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि प्राचीन समय के इतिहास, रीति-रिवाज आदि के संबंध में खोज करने के लिए उनका पढ़ना-पढ़ाना तो जरूरी रहेगा ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हमारी जाति के अवचेतन में कौन से प्रभाव काम कर रहे हैं, उनका अध्ययन करने के लिए भी इन ग्रंथों का पठन-पाठन जरूरी रहेगा, पर विशुद्ध कहानियों के रूप में भी उनका प्रचार और प्रसार और कुछ नहीं तो हमारे बालक-बालिकाओं में रहेगा ही। वर्तमान युग में कोई कितने भी सुंदर बाल-साहित्य का सृजन करे, पर रामायण, महाभारत, कथासरित्सागर तथा जातक इत्यादि में उत्कृष्ट बाल-साहित्य का जो ढेर है, हम उसके मुकाबले में न तो दूसरे देशों के प्राचीन साहित्य में इतनी ऐश्वर्यशाली सामग्री प्राप्त कर सकते हैं और न अन्य कहीं। इसलिए रामायण, महाभारत आदि बाल-साहित्य के रूप में प्रचारित रहेंगे।

बौद्ध कथाओं की विशेषता

हमारे प्राचीन कथा-साहित्य में भी कई तरह की सामग्रियाँ हैं। डाक्टर श्रीकुमार वंद्योपाध्याय के अनुसार बौद्ध जातकों में वास्तविकता की रेखा स्पष्टतर और गंभीरतर है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि 'संस्कृत साहित्य की तुलना में समग्र बौद्ध-साहित्य में वास्तविकता का स्वर अधिकतर तीव्र और निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट है।' शायद इसका एक कारण यह हो कि बौद्ध धर्म गण-

भावना के द्वारा अधिक प्रभावित है। इसमें हिंदू धर्म की सनातन श्रेणियों को तोड़ताड़ कर मनुष्य को एक नये ऐक्य और साम्य की तरफ ले जाने की चेष्टा की गयी है और गतानुगतिक राजन्य और अभिजात वर्ग के दायरे से हट कर मध्यम श्रेणी के लोगों के वास्तविक जीवन को चित्रित करने का बीड़ा उठाया गया है।

बौद्ध जातकों में बुद्ध की महिमा का प्रचार किया गया है, इस महिमा-प्रचार के कार्य में बुद्ध को अलौकिक शक्तियों से सुसज्जित करके दिखलाया गया है। इनमें पशु-पक्षियों को नायक और नायिका के रूप में दिखाया गया है, इसलिए पशु-पक्षियों के चरित्र के साथ-साथ मनुष्य का चरित्र भी इसका विषय है। इस दृष्टि से यह निस्संदेह वर्तमान उपन्यास-साहित्य के अधिक निकट है। सच तो यह है कि पशु-पक्षी भी बहुत कुछ मनुष्यीभूत हैं। फिर भी इन कथाओं का उद्देश्य अक्सर किसी प्रकार की नीति का प्रचार करना है।

जैन साहित्य

इस संबंध में जैनी भी पीछे नहीं रहे हैं। बहुत से जैनी रूपक मिलते हैं, जिनमें कथा-साहित्य का आनंद है। इनके अतिरिक्त जैनियों की धर्मकथाओं में प्रेमाख्यानों का रूप बौद्धों की अवदात कहानियों से अधिक निखरा है। 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा), 'जसहर चरिउ' आदि चरित-काव्य धर्मकथा होते हुए भी प्रेमाख्यानों की कोटि में आ जाते हैं। (भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव, पृष्ठ १३)।

जब हम बौद्ध और जैन साहित्य पर इस दृष्टि से देखते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि उसमें कहानी तथा उपन्यास के (यहाँ आधुनिक अर्थ में ही इनका प्रयोग किया जा रहा है) कई प्रधान तत्त्व किसी न किसी रूप में मौजूद थे, पर वास्तविकता संबंधी धारणा से अपने को बलात् दूर रखने के कारण यह कहानियाँ मध्ययुगीन ही रह गयीं। डा० श्रीकुमार वंद्योपाध्याय ने इस पर कहा है—'इनमें औपन्यासिक उपादानों की प्रचुरता देख कर सचमुच ही ऐसा लगता है कि यदि बाद को चल कर कहानी की यह धारा अक्षुण्ण और अव्याहत रहती, वास्तविकता के साथ निविड़ स्पर्श के मार्ग में बाधा न होती तो शायद हमीं को सबसे पहले उपन्यास के आविष्कार का गौरव प्राप्त होता और तब शायद उपन्यास को अँगरेजी

साहित्य के अनुकरण पर विदेशी भावापन्न हो कर हमारे साहित्य में पीछे के दरवाजे से प्रवेश न करना पड़ता। जातकों में उपन्यासोचित गुण यथेष्ट हैं। उनमें न केवल वास्तविक उपादान पर्याप्त परिमाण में मौजूद हैं, बल्कि उनमें एक हद तक वस्तुवादी मनोवृत्ति भी चित्रित है। इन दोनों विषयों में वे उपन्यास-साहित्य के पथप्रदर्शक और अग्रदूत होने का दावा कर सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।'

अपभ्रंश कथा-साहित्य

संस्कृत, पाली, प्राकृत के अलावा अपभ्रंश भाषा में भी तरह-तरह की कहानियाँ मिलती हैं। स्मरण रहे कि अपभ्रंश भाषा सातवीं से ले कर सोलहवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। पर विशेष कर दसवीं से बारहवीं तक अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि रही। मुख्यतः अपभ्रंश साहित्य में तंत्र-मंत्र, भैरवी चक्र, भूत-प्रेत, जादू यानी संक्षेप में वाम मार्ग का साहित्य लिखा गया, पर अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें वीर और शृंगार रस की कथाएँ हैं। उदाहरण के लिए 'स्तुति संलाप' में छोटे-छोटे आख्यान पाये जाते हैं। 'नल-कथा' में द्यूत-क्रीड़ा के अवगुण दिखाये गये हैं, 'प्रद्योत कथा' में व्यभिचार के संबंध में सीख दी गयी है। 'तारा' और 'रुक्मिणी' कथाओं में विश्वासपात्रता और सच्चाई के उदाहरण रखे गये हैं। अपभ्रंश के चरित ग्रंथों और पुराणों में बहुत सी कथाएँ आती हैं। अवश्य प्रत्येक कथा में धर्मोपदेश देने की चेष्टा की गयी है। पर जैसा कि डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव ने लिखा है यदि इन प्रसंगों को निकाल दिया जाय, तो वे शुद्ध प्रेमाख्यान ही रह जाते हैं।

ग्रीक, यहूदी और मुस्लिम कथाएँ

जब हम इस प्रकार भारतीय धर्मग्रंथों से हट कर अन्य देशों की ओर जाते हैं तो हमें यह दिखायी पड़ता है कि ग्रीकों का उपाख्यान-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। यदि विचित्रता और साथ ही कलात्मक सौंदर्य में किसी देश का पुराण भारतीय पुराणों का मुकाबला कर सकता है, तो वह ग्रीकों का पुराण है। होमर के इलियड में न जाने कितनी कहानियाँ हैं, यद्यपि आम तौर से यह समझा जाता है कि इलियड होमर द्वारा रचित है, पर यह शायद एक कवि की

रचना नहीं है, हमारे महाभारत और रामायण की तरह उसमें बहुत से कवियों ने अपनी-अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। हमारे यहाँ जैसे यह पता नहीं लगता कि व्यास एक थे या कई उसी तरह इलियड के रचयिताओं की भी हालत है। ग्रीक देवी, देवता, वीर तथा वीरांगनाएँ हमें उसी प्रकार मुग्ध करती हैं, जैसे भारत के प्राचीन देवी, देवता, वीर और वीरांगनाएँ।

इसके साथ हम जब यहूदियों के प्राचीन साहित्य की तुलना करते हैं तो उसमें न तो उस प्रकार की रोचक कथाएँ ही मिलती हैं जैसी भारत या ग्रीस में मिलती हैं, न उस प्रकार के वीर तथा वीरांगनाएँ देखने में आती हैं। इसका कारण शायद यह है कि यहूदी जाति का पुराण इतिहास अधिक है और उसमें 'माइथोलाजी' के तत्त्व कम हैं। ईसाइयों ने यहूदियों के पुराण को ही एक हद तक अपनाया और मुसलमानों ने भी ऐसा ही किया। इस कारण मुस्लिम पुराण भी दिलचस्प कहानियों के तत्त्वों से वंचित हैं। कुरान में भी कथाएँ मौजूद हैं और मुस्लिम धर्म तत्त्वज्ञों के अनुसार युसुफ़ और जुलेखा की कहानी कुरान की सबसे दिलचस्प कहानी है। कहा जाता है कि एक मोमिन ने अल हज़रत से यह शिकायत की कि प्रत्येक जाति की धर्म पुस्तक में कोई न कोई दिलचस्प कहानी है, किन्तु हमारी धर्म पुस्तक में कोई दिलचस्प बात नहीं है, इस पर कहते हैं कुरान का वह हिस्सा उतरा, जिसमें युसुफ़ और जुलेखा की कहानी है। इसमें संदेह नहीं कि कहानी कह लेने को ही कथा साहित्य माना जाय, तो हमें इन पौराणिक पुस्तकों को कथा-साहित्य के अंतर्गत मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से, जैसा कि हम पहले ही बता चुके, वेदों के ख़ास-खास हिस्से को भी कथा-साहित्य के अंतर्गत मानेंगे। वेदों में प्रेम, युद्ध तथा जुआ आदि की कितनी ही कहानियाँ हैं। ग्रीक और भारतीय पुराण तो सर्वश्रेष्ठ हैं ही, इससे कुछ उतर कर स्कैंडेनेविया के पुराण हैं, बाइबिल तथा मुसलमानों के पुराणों का दर्जा इस संबंध में सबसे घटिया है। जिस प्रकार महाभारत और रामायण बच्चों के लिए दिलचस्प हैं, बाइबिल या कुरान में बच्चों को वैसी कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। अवश्य इस कमी की पूर्ति बाद को संतों, असहाब, फकीरों आदि की अर्द्धकल्पित जीवन कहानियों से कर ली गयी है। मिश्र देश के ३,००० वर्ष पुराने लेखों से दो भाइयों की कहानी का पता मिलता है। यह कहानी फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समा-

विष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल में भी उस कथा को एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है। (कुछ विचार—प्रेमचंद)।

आदिम हिंदी और रासो-साहित्य

जब हम हिंदी की तरफ आते हैं (इस समय तक स्वतंत्र रूप से हिंदी की स्थापना हो चुकी है) तब हमारा ध्यान रासो ग्रंथों की ओर जाता है। इन ग्रंथों में प्रेमाख्यान के साथ-साथ शौर्य-वीर्य की कथाएँ वर्णित हैं। डाक्टर हरिकांत श्रीवास्तव ने इस संबंध में बताया है कि—'रासो-परम्परा में सब से विपुल ग्रंथ पृथ्वीराज-रासो है। इसमें अपभ्रंश के चरित, कथा, पुराण आदि अनेक प्रकार के प्रबंध-काव्यों की शैली का मिश्रण भी प्राप्त होता है, जिसके कारण यह बृहद्कथा-पद्धति का काव्य हो गया है।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि रासो ग्रंथों को ही हम हिंदी के आख्यान मूलक साहित्य का पूर्व पुरुष मान सकते हैं। इस संबंध में एक बहुत ही ध्यान देने योग्य बात है कि हिंदी में जिस प्रारंभिक आख्यान-साहित्य का सृजन हुआ, वह धार्मिक नहीं था, बल्कि शुद्ध साहित्य था। कैसे बाद को चल कर हिंदी का सारा आख्यान-साहित्य राम और कृष्ण के इर्द-गिर्द घूमने लगा और विशुद्ध प्रेमकथा या वीरगाथा के बजाय उसका रंग धार्मिक हो गया, इसकी खोज के लिए शायद हमें हिंदी-साहित्य के बाहर समसामयिक धार्मिक आन्दोलनों की ओर जाना पड़े।

जो कुछ भी हो, यह एक तथ्य है कि हिंदी का प्राचीनतम आख्यान साहित्य ऐहिक था। इस अर्थ में वह तुलसी और सूर रचित साहित्य की तुलना में आधुनिक साहित्य के अधिक निकट था। इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि स्वयं रासो शब्द की जो उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, वे भी ऐहिक ढंग की हैं। फ्रेंच विद्वान तासी ने राजसूय यज्ञ से इसकी उत्पत्ति मानी है। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसकी उत्पत्ति रासक शब्द से मानते हैं। एक अन्य लेखक ने इसकी व्युत्पति आभीर जाति के सामूहिक नृत्य से मानी है। इस पर यह बताया गया है कि रास में जिस प्रकार के प्रेमाख्यान, विरह-निवेदन आदि सरस रचनाएँ हैं, उनका संबंध राजस्थान में भ्रमण करनेवाली आभीर गोप जाति से होना संभव है।

यह भी एक ध्यानयोग्य बात है कि बाद को चल कर आख्यानक काव्यों के रचयिताओं में कई अग्रणी मुसलमान हुए। इस संबंध में यह द्रष्टव्य है कि मुल्ला दाऊद कृत चंदायन ('बरस सात सै होइ इक्यासी', यानी ७८१ हिज़री) में 'नूरकचंदा' की कहानी, शेख रिजकुल्ला मुश्ताकी या रज्जन की 'पेम बन जाबे निरंजन', कुतुबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती' (१५४५ ई०) आदि कई प्रमुख रचनाएँ हैं। जायसी ने मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है।

जायसी का पद्मावत

यहाँ जायसी के पद्मावत का विशेष उल्लेख वांछनीय है। यह एक प्रेम-काव्य है। इसकी रचना संवत् १५९७ या सन् १५४० ई० में हुई थी। श्री गुलाबराय ने इस पुस्तक का वर्णन इन शब्दों में लिखा है—'पद्मावत में राजा रत्नसिंह और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का मिलन हीरामन तोता ने कराया था..............इस कला में प्रेम-साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश ऐतिहासिक है। कवि कल्पना के अनुसार इसमें हेर फेर अवश्य किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम को भी झलक दिखलायी गयी है। इतने ही वर्णन से ज्ञात होगा कि इस कथा में बाद के युग के अर्थात् आधुनिक प्रेममूलक उपन्यास के उपादान मौजूद हैं। इन पर पहले की कथाओं का बहुत जबर्दस्त प्रभाव रहा।'

जायसी ने पद्मावत की रचना की। इसके अलावा उस्मान कवि, शेख नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, आलम, गुलाम मुहम्मद आदि कई प्रमुख मुसलमान कवि एक के बाद एक उत्पन्न हुए। क्या यह कोई आकस्मिक बात है कि जब तक आख्यान-साहित्य बहुत कुछ ऐहिक बना रहा और उस पर हिंदू धर्म का साम्प्रदायिक रंग पूरा-पूरा नहीं चढ़ा, तब तक मुसलमानों के लिए हिंदी में बहुत अधिक गुंजाइश रही। यदि उस युग में पारलौकिक प्रेम से संबंधित सूफी रंग की कहानियों का प्रचलन था, तो उसका भी रूप यह था कि उनकी पारलौकिकता साम्प्रदायिकता से ऊपर उठ कर चलती थी। इस दृष्टि से देखने पर बाद को चल कर जिस संत-साहित्य की सृष्टि हुई और जिसके

लिए बड़ा गर्व किया जाता है, वह अंतर्निहित हिंदू रंग के कारण हिंदी की एकता में बाधक ही सिद्ध हुआ, जिसका अंतिम परिणाम हिंदी का हिंदी और उर्दू दो भागों में बँट जाना रहा। हिंदी के इस युग पर अधिक विस्तार में जाना इस प्रसंग में उचित न होगा क्योंकि आधुनिक उपन्यास-साहित्य विशेष कर प्रेमचंद को उस युग के साहित्य से किसी प्रकार प्रभावित प्रमाणित करना संभव नहीं है।

फिर भी इतना तो हमने दिखा ही दिया कि यदि संसार के प्राचीनतर साहित्यों में विशुद्ध कहानी कहने की परम्परा थी, तो हिंदी का अलग अस्तित्व स्थापित होने के साथ ही हम आख्यान काव्यों में उस प्रवृत्ति को फलते-फूलते देखते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि उस युग में साहित्य जनता से सम्बद्ध नहीं था, बल्कि बड़े लोगों के मनोविनोद का साधन था और यह स्वाभाविक है कि वे लोग जिस प्रकार के थे, उनका मनोविनोद भी उसी प्रकार की कथाओं से होता था।

हिंदी कथा-साहित्य में गद्य का प्रारम्भ

अब तक हमने जिन हिंदी रचनाओं का उल्लेख किया है, वे पद्य रचनाएँ हैं। संस्कृत चम्पू काव्यों के अतिरिक्त हमें कुछ ऐसे आख्यान-साहित्य का पता मिलता है, जिसमें गद्य का भी प्रयोग हुआ है। कवि विद्यापति का जन्म १३६० ई० के लगभग हुआ। 'कीर्तिलता' उनकी एक मुख्य रचना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार उन्होंने इस काव्य को 'कथा' नहीं कहा था बल्कि 'काहाणी' कहा है। यहाँ यह 'काहाणी' शब्द द्रष्टव्य है। उन दिनों कहानियों में गद्य का भी प्रयोग होता था। विद्यापति की कीर्तिलता में भी गद्य का यत्र-तत्र प्रयोग है। 'यद्यपि लीलावती नामक प्राकृत कथा में भी कहीं-कहीं गद्य थोड़ा-बहुत आ गया है, पर वह नाममात्र को है। अपभ्रंश के चरित काव्यों में तो गद्य का लोप ही हो गया था, इस प्रकार विद्यापति की कीर्तिलता इस बात में अपभ्रंश के चरित-काव्यों से विशिष्ट है। रुद्रट के सामने जो संस्कृतेतर भाषाओं की कथाएँ थीं, उनमें भी कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग होता था। जान पड़ता है कि विद्यापति के पूर्ववर्ती काल में जो कथाएँ लिखी गयीं, उनमें गद्य का प्रयोग होने लगा था। फिर कथा-काव्यों में राज्य-लाभ तथा कन्याहरण और गन्धर्व विवाहों का प्राधान्य होता था, जो कीर्तिलता में केवल राज्य-लाभ तक ही सीमित रह गया है। इस प्रकार विद्यापति की कीर्तिलता

कथा-काव्य के कुछ लक्षणों से युक्त नहीं है। इसलिए वह ठीक-ठीक कथा नाम नहीं पा सकती। जान पड़ता है कि विद्यापति ने अपने काव्य को कथा से भिन्न श्रेणी की रचना समझ कर उसे 'काहाणी' कहा था। इसमें कथा के मुख्य-मुख्य लक्षण आ जाते हैं और एकाध लक्षण छूट जाते हैं। यह भी हो सकता है कि विद्यापति के पूर्व में इस कहानी नाम की अन्य रचनाएँ भी रही हों, जिनकी सूचना दामोदर भट्ट की पुस्तक में मिल जाती है। यहाँ उल्लेख योग्य है कि विद्यापति की एक अन्य पुस्तक 'कीर्तिपताका' है, जिसमें प्रेमकथा वर्णित है। सम्भवतः विद्यापति ने कथा के दोनों उद्देश्यों—युद्ध और प्रेम—के लिए अलग-अलग पुस्तक लिखी थी।' (हिंदी साहित्य, डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७९)।

आधुनिक कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गद्य में लिखा जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस संबंध में भी हर्षवर्धन के राजकवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' को ही अग्रणी मानना पड़ेगा, वह गद्यबद्ध भी है, और उसकी विषयवस्तु कहानी भी है। फिर भी हम बाणभट्ट की कादम्बरी को आधुनिक अर्थ में उपन्यास नहीं कहेंगे, क्योंकि उसमें जिस प्रकार की आलंकारिक तथा वागाडम्बरपूर्ण भाषा का उपयोग हुआ है, उससे कोई भी उसे उस प्रकार पढ़ कर सहज आनंद नहीं प्राप्त कर सकता, जिस प्रकार आज ट्राम में या रेल में आधा घंटा बैठ कर लोग एक कहानी को पढ़ कर आनंद प्राप्त करते हैं। आधुनिक अर्थ में उपन्यास सहज निर्मल कलामय आनंद देने के लिए लिखा और पढ़ा जाता है, अवश्य इसके साथ ही लेखक और भी बहुत से उद्देश्य सिद्ध कर सकता है, करता है, और शायद उसे करना भी चाहिए,—यहाँ हम इन तर्कों में नहीं पड़ेंगे, किन्तु चाहे जिस प्रकार का उपन्यास हो उसकी सफलता इसी में है कि पढ़नेवाले को आनंद प्राप्त हो और उसे उपन्यास को समझने के लिए प्रत्येक पंक्ति में न तो कोष उठा कर देखना पड़े और न उसे बार-बार अलंकार या समास-विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़े। इतना बता देने पर भी जिस अर्थ में धार्मिक पुराणों को तथा अन्य लोक कथाओं को पद्यबद्ध होते हुए भी आधुनिक उपन्यास का आदिपुरुष माना जा सकता है, उससे निकटतर अर्थ में बाणभट्ट की कादम्बरी को आधुनिक उन्यास का पूर्वपुरुष मानना पड़ेगा। 'अलिफ-लैला' की कहानी भी इसी प्रकार आधुनिक उपन्यास के पूर्वपुरुषों में है, किन्तु उसमें अलौकिक घटनाओं की भरमार है। धार्मिक साहित्य की अलौकिकता और

इसकी अलौकिकता में फर्क यह है कि इसकी अलौकिकता में धर्म का पुट नहीं है। इसी प्रकार फारसी की एक पुस्तक 'तिलस्म होशरुबा' का पता मिलता है। यह बीस हजार पृष्ठों की पुस्तक है। यह भी अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। इस पुस्तक के रचयिता के संबंध में कहा जाता है कि अकबर के दरबारी फ़ैज़ी इसके लेखक थे, किन्तु इसमें संदेह है। जो कुछ भी हो, पाश्चात्य तथा पूर्वीय देशों में हम आज जिसे उपन्यास कहते हैं, उसके कई तत्त्वों से युक्त अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना हुई।

ब्रजरत्नदास का मत हम उद्धृत कर चुके हैं। आधुनिक उपन्यास की केवल यही विशेषता नहीं है कि वह गद्यबद्ध है, और उसकी भाषा सरल होती है, बल्कि उसमें और भी विशेषताएँ हैं। अवश्य यदि हम क्रमबद्ध तरीके से पुराणों से ले कर अति आधुनिक उपन्यासों के विकास तक का अनुसरण करें तो हमें उसमें कई सोपानों के दर्शन होंगे। आधुनिक वस्तुवादी उपन्यास (वस्तुवादी उपन्यास से यहाँ केवल इतना ही मतलब है कि उसमें अलौकिक घटनाएँ न घटित हुई हों) और पौराणिक गाथाओं के बीच में जो सोपान हुआ है, उसे हम रोमांटिक कथा का युग कह सकते हैं। रोमांटिक उपन्यासों में धार्मिक कथाओं के बनिस्बत अलौकिक घटनाएँ कम हुईं, किंतु उनका रूप भर बदल गया, उनको हम बदले हुए रूप में देख सकते हैं। रोमांटिक साहित्यों में ही अब हम व्यक्ति की प्रधानता देखना शुरू करते हैं। उदीयमान पूँजीवादीवर्ग अपने को सामंतवादी समाज की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए छटपटा रहा था। वह अपने व्यक्तित्व को सामन्तवादी वृहत्तर व्यक्तित्व में बराबर ग्रस्त पा रहा था, किंतु अब वह धीरे-धीरे सिर उठा रहा था। रोमांटिक साहित्य में व्यक्ति ही प्रधान है, वह असाध्य साधन कर रहा है। रोमांटिक धारा ने ऐतिहासिक उपन्यास को विशेष कर अपना वाहन बनाया है, बात यह है कि पीछे के एक युग में व्यक्ति को एक बड़ी हद तक बंधनहीन करके दिखलाया जा सकता था। इस प्रकार उदीयमान वर्ग ने व्यावहारिक क्षेत्र में अपनी मुक्ति प्राप्त करने के पहले काल्पनिक रूप से साहित्य क्षेत्र में मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की। अवश्य यह कोई मुक्ति नहीं थी, मुक्ति की छायामात्र थी, किंतु यह चेष्टा साहित्य में अपना एक चिह्न छोड़ गयी।

पहले पहल पाश्चात्य जगत् में उपन्यास की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके

संबंध में राल्फफाक्स ने लिखा है — 'ज्यों-ज्यों मध्ययुग का अवसान होने लगा त्यों-त्यों इटली और इँगलैंड के व्यापारी वर्ग ने पहले-पहल आधुनिक ढंग पर कहानी कहनेवालों को उत्पन्न किया। इन कहानियों में जो नायक और नायिकाएँ थीं, उन्होंने जो कुछ किया उसको महत्त्व दिये जाने के साथ ही साथ अब उतने ही परिमाण में उनके चरित्रों को महत्त्व दिया गया। चॉसर और बोक्कासियो ने पहले-पहल, उपन्यास लेखक की सबसे बड़ी विशेषता पुरुषों और स्त्रियों के संबंध के विषय में कौतूहल प्रकट किया। कुछ हद तक हम इस बात को मालोरी में देख सकते हैं, किन्तु वे चॉसर के काफी बाद को लेखक के रूप में आये हैं, और यद्यपि उनका माध्यम गद्य था, फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि वे कवियों के ही ढर्रे पर चले। यह बात सच है कि वे एक ऐसे समाज के मध्य में बैठ कर लिख रहे थे जो ह्रास के पूर्व होनेवाली अराजकता के बीच से गुजर रहा था, किंतु फिर भी आपको पास्टन के पत्रों में मालोरी के बनिस्बत अधिक वस्तुवादी अँगरेज पुरुष और स्त्रियाँ और कभी-कभी सुंदरतर गद्य मिलेगा।' (The Novel and the People, पृष्ठ ३५)।

इस प्रकार आधुनिक उपन्यास की अर्थात् पूँजीवादी युग के उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति को महत्त्व दे कर शुरू होता है। पूँजीवाद व्यक्तिवाद को ले कर ही आगे आया है। ह्रासशील सामंतवाद के विरुद्ध उसने न केवल अपने वर्ग को बल्कि अन्य सब वर्गों को व्यक्तिवाद का नारा दे कर सामंतवाद के विरुद्ध संगठित किया है। यह द्रष्टव्य है कि शुरू-शुरू के कुछ उपन्यासों में आत्मकथा मूलक ढंग जोरों के साथ अपनाया गया था। राबिन्सन क्रूसो (१७१६), गुलीवर की यात्राएँ (१७२७), Mauom lescant (१७३२), Marianne (१७३५) और आम तौर पर मारीवो (Marivoux) और आवे प्रेवोस्त (Prevost) की सब रचनाएँ आत्मकथामूलक थीं। इन उपन्यासों में वर्णन यों किया जाता था कि मैंने यह देखा और मैंने यह किया। (Honore de Balazac, पृष्ठ १८) इसी प्रकार पत्रों के जरिये से जो उपन्यास का तरीका चला उसे भी हम आत्मकथामूलक कह सकते हैं, अवश्य पत्रोपन्यास में केवल एक मैं न होकर दो मैं के होने की गुंजाइश हुई। वृन्तीयर ने १७४८ में लिखित Clarisse Harlowe तथा १७६२ में लिखित la Nouvelle Heloise को मुख्य उदाहरण के रूप में पेश किया है। एक मैं से दो मैं और फिर बहुत से दृष्टिकोणों से एक चीज को देखने की परिपाटी का सूत्रपात हुआ। इस तरह से हम

बिल्कुल आधुनिक उपन्यास में पहुँच जाते हैं। अति-आधुनिक कथित मनोविज्ञान प्रधान उपन्यास में यह जो कोशिश की जाती है कि मनुष्य के मनोविज्ञान से ही सारी घटनाएँ प्राप्त की जाएँ, यह इसी रुख की चरम सीमा है। अवश्य ही मनुष्य का मन एक बहुत बड़ा घटक है, उपन्यास-लेखक को या कवि को अवश्य उसका ध्यान रखना पड़ेगा, किन्तु यह कुचेष्टा करना कि आसपास का समाज हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता या कम प्रभाव डालता है, यह गलत है। सच बात तो यह है कि मनुष्य का मन तथा उसकी मनोवृत्तियाँ ही ऐतिहासिक भौतिक कारणों से उत्पन्न हुई हैं और बराबर समाज की अग्रगति अथवा अवनति के साथ-साथ बदलती चली जा रही हैं, इसलिए मनोवृत्तियों को ही सब कुछ समझना सही नहीं हो सकता। अतिआधुनिक उपन्यासों पर लिखते समय हम यथासमय इस प्रवृत्ति की आलोचना करेंगे।

पहले-पहल जब आधुनिक उपन्यासों की उत्पत्ति हुई, तो उनकी रचना एक बड़ी हद तक बैठे ठाले लोगों के मनोरंजन के लिए हुई, अर्थात् ऊपर से इनके रचयिता स्वतंत्र और निस्पृह दिखायी पड़ने पर भी उपन्यासों की रचना बिक्री के लिए या आर्थिक लाभ के लिए की गयी। स्वाभाविक रूप से धन तथा उपन्यास पढ़ कर आनंद उठाने लायक शिक्षा पूँजीवादीवर्ग में ही थी, अतएव घुमाव-फिराव के साथ उपन्यासों की रचना पूँजीवादीवर्ग तथा उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले नये मध्य-वित्तवर्ग के लिए हुई। इसलिए उपन्यास के संबंध में यह जो कहा गया है कि वह निठल्ले लोगों के मनोरंजन की कला है, यह ठीक उतरती है, किन्तु यहाँ यह स्मरण रहे कि सब परोपजीवीवर्गों द्वारा शासित समाजों में कमोबेश कला का यह स्वरूप होना अनिवार्य था। सामंतवादी युग में काव्य, साहित्य की रचना, सामंतवादी प्रभुओं, राजाओं, महाराजाओं, नवाबों का कृपाकटाक्ष प्राप्त करने के लिए होती थी, और जो कवि इनका कृपाकटाक्ष प्राप्त कर लेता था वह धन्य समझा जाता था। उस युग में स्वाभाविक रूप में कवियों तथा कलाकारों को इस बात की परवाह नहीं थी कि जनता उनकी कला या काव्य की कद्र करती है या नहीं। यदि लगे हाथों जनता के कुछ लोगों ने उनकी कद्र की तो अच्छी बात है, नहीं तो वे इसके लिए कोई चेष्टा नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त जनता में इतनी शिक्षा, संस्कृति या अवकाश नहीं था कि वह इन रचनाओं की कद्र करती। इस प्रकार सामंतवादी युग में

कला तथा साहित्य का रूप वर्गकला या वर्गसाहित्य ही रहा। उस युग में भी साहित्य या कला निठल्लों का मनोरंजन करती थी।

अवश्य कुछ जनता के कवि तथा कलाकार उन युगों में भी हुए हैं, जो राजदरबार की ओर नहीं, बल्कि जनता की ओर ही देखते थे, पर उनकी आँखों पर भी धर्म आदि का चश्मा चढ़ा हुआ था, जिसके कारण वे जनता तक पहुँचने की चेष्टा तो करते थे, पर ऐसा जनता के लिए न करके कुछ काल्पनिक आदर्शों के लिए करते थे। हम इसके ब्यौरे में जाने का साहस नहीं करते, केवल इतना बता कर आगे बढ़ जायेंगे कि कबीर, नानक, तुलसी आदि कवि इसी श्रेणी के हो गये हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी बता दें कि उनकी कविता या कला दरबारी न थी और वे दरबार की ओर नहीं ताकते थे फिर भी उनकी कविता की अंतर्गत वस्तु अपने को एक हद तक ही सामंतवादी अंतर्गत वस्तु से अलग कर पायी।

पूँजीवादी वर्ग की प्रथम महान् राजनैतिक क्रांति अर्थात् १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रांति के पहले ही उपन्यासों की बहुत उन्नति हो चुकी थी। फिलीबर आदेब्राँ ने इस सम्बन्ध में एक बहुत ही मजेदार तथ्य दिया है कि 'जिस दिन बास्तिल जेल पर (जहाँ क्रांतिकारी बंद थे) क्रांतिकारियों का कब्जा हो गया उसी दिन से कुछ काल के लिए उपन्यास की उन्नति रुक गयी। इसके बाद तो सड़कों पर नाटकों का दौरदौरा रहा। प्लासदला रिवल्युसियों में खूनी दृश्यों को नाटकों के जरिये से दिखाया जाता था, और कई क्षेत्रों में तो नाटक मानों बन्दूक कन्धे पर लेकर और हाथ में तलवार लेकर सरहद पार कर दिग्विजय के लिए रवाना हो गया। ऐसे समय में प्रेम की कहानी बिल्कुल एक ऐसी बात होती, जो उस समय की पवित्रता को क्षुण्ण करती, और सारे परिप्रेक्षित के साथ असामंजस्यपूर्ण होती। यह परिस्थिति करीब दस साल तक रही। तथ्य तो यह है कि १८ वें ब्रूमेयेर या मारंगों के युद्ध के बाद ही उपन्यास का पुनरुज्जीवन हुआ। इस प्रकार उपन्यास फिर से कब्र के अंदर से निकला तो उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। उसकी चारों तरफ की सब बातें, रंग-ढंग, पोशाक, बातचीत का तरीका, यहाँ तक कि भूगोल बदल चुका था। इस दृश्य को देख कर उसने अपने पाठक वर्ग को हिलाया, टटोला और उसे यह मालूम न पड़ा कि कैसे फिर से जनता पर कब्जा किया जाय। धीरे-धीरे वह

तगड़ा पड़ता गया, और नयी दुनियाँ के साथ कदम ब कदम चलने लगा।' (Romanciers et Viveus, पृष्ठ ३)। इसके बाद तो उपन्यासों की धूम ही गयी, यहाँ तक कि चार्ल्स सारोलिया को यह कहने की हिम्मत हो गयी कि 'कहानी कहने की कला अनिवार्य रूप से एक फ्रेंच कला है।' (Letters de Mon Monlin, पृष्ठ ३)।

आदेब्राँ ने जो यह दिखलाया है कि वर्षों तक उपन्यास फ्रांस में बंद रहा, यह ऐतिहासिक रूप से सत्य होते हुए भी जरूरी नहीं था कि हर हालत में ऐसा होता ही। ऐसा इसलिए हुआ कि उस समय के उपन्यासकार उपन्यास की कल्पना प्रेमकहानी या निठल्लों की मनोरंजन सामग्री के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में नहीं कर सकते थे। उपन्यास इसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य भी सिद्ध कर सकता है, तथा एक क्रांतिकारी तथा अनिश्चित वातावरण के साथ कदम मिला कर चल सकता है, इसका ज्ञान उस समय के उपन्यासकारों को नहीं था। इस प्रकार उपन्यास के संबंध में जो पूँजीवादी धारणा थी कि वह केवल निठल्लों के मनोरंजन के लिए है, दूसरे शब्दों में कला कला के लिए है—इसने ही उनको ऐसे समय में पंगु बना दिया और उपन्यास-कला उनके युद्ध तथा दिग्विजय में सहायक सिद्ध न हो सकी। दूसरे महायुद्ध में हम देख चुके हैं कि इलियाएरेन-वर्ग तथा वांद्रा वासिलियावास्का आदि लेखकों के उपन्यासों ने लड़ाई को जीतने में उतनी ही सहायता दी, जितना नवीन से नवीन हवाई जहाज तथा टैंक दे सकता है, बल्कि उनसे भी कहीं अधिक क्योंकि लड़ाई के जीतने में जो सबसे बड़ा उपादान है, वह मनुष्य है, और इन लेखकों की रचनाओं ने ऐसे मनुष्यों को उत्पन्न किया या यों कहना चाहिए कि मनुष्यों को ऐसे मानसिक ढाँचे में ला कर रख दिया, जिससे लड़ाई जीती जा सकती है। कला की सम्भावनाओं के संबंध में एक संकुचित दृष्टिकोण रखने के कारण या यों कहिए कि उसकी विस्तृत सम्भावनाओं को समझ पाने में असमर्थ रहने के कारण स्वयं बुर्जुआ समाज अपने एक बहुत सम्भावना-युक्त अस्त्र से वंचित रहा। जो कुछ भी हो, इसके बाद बुर्जुआ वर्ग सारी बातों को जान गया और उसने बहुत सुंदरता और सूक्ष्मता के साथ कला तथा साहित्य का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग किया है।

चार्ल्स सारोलिया ने यह जो कहा है कि कहानी कहने की कला अनिवार्य

रूप से एक फ्रेंच कला है, यह केवल एक देशभक्त का आस्फालन मात्र नहीं था, सचमुच ही फ्रेंच उपन्यास सारे बुर्जुआ जगत के उपन्यासों के शीर्ष स्थान पर रहा है। यदि हम इस बात को याद रखें कि सबसे पहले खुल कर फ्रांस के बुर्जुआवर्ग के हाथों में ही राष्ट्रशक्ति आयी, तो हमें इस परिणाम को समझने में दिक्कत न होगी। इँगलैंड में उस प्रकार से समारोहपूर्ण ढंग से कोई बुर्जुआ क्रांति नहीं हुई, किन्तु वहाँ फ्रांस से पहले बुर्जुआवर्ग शक्ति-आरूढ़ हो गया, इसलिए अँगरेजी उपन्यासकार भी रचना की दौड़ में फ्रांसीसियों से होड़ करते रहे। बाद को तो चल कर सभी यूरोपीय देशों में उपन्यासों की उन्नति हुई।

इस स्थान पर हमसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि हम पाश्चात्य उपन्यास-कला के विकास का कोई क्रमबद्ध इतिहास पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करें। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही दिखा देना है कि एक तो उपन्यास आधुनिक पूँजीवादी समाज की विशेष ही नहीं, बल्कि उसकी सबसे बड़ी उपज है, दूसरा यह कि भले ही इसका भ्रूण-रूप में पहले अस्तित्व रहा हो, किन्तु इसे गर्भ से निकालने का श्रेय पूँजीवादी समाज-पद्धति को ही है। राल्फफाक्स ने यह बहुत ठीक कहा है कि उपन्यास हमारे आधुनिक बुर्जुआ समाज का एपिक कलागत स्वरूप है, इस समाज के यौवन काल में यह कला अपनी पूर्णता तक पहुँची, और इस समाज के ह्रास के साथ-साथ इसमें भी कुछ बट्टा लगता हुआ नज़र आता है। यद्यपि अभी भारतवर्ष में यह प्रश्न नहीं उठता कि क्या वर्तमान समाज-पद्धति अर्थात् बुर्जुआ समाज-पद्धति के ह्रास तथा अंत के साथ उपन्यास का भी अंत हो जायेगा। राल्फफाक्स ने इस प्रश्न पर विवेचना करते हुए यह दिखलाया है कि एपिक या महाकाव्य सामंतवादी युग की सबसे बड़ी साहित्यिक उपज थी, किन्तु बाद को इसका Chanson de geste में पुनरुज्जीवन हुआ, और जब इस रचना-प्रणाली का भी अंत हो गया, तब उपन्यास ही एपिक रूप में लिखे जाने लगे। इस प्रकार एपिक अपने मौलिक रूप में न सही, एक दूसरे रूप में पुनरुज्जीवित हुआ। इसी प्रकार उपन्यास अपने व्यक्तिप्रधान स्वरूप में न रह कर एक बदले हुए स्वरूप में पूँजीवादी समाज के आगे के समाज में रह सकता है, रहेगा और जैसा कि हम रूस के उदाहरण से जानते हैं, वह है, और सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है। सच बात तो यह है कि स्वयं बुर्जुआ लेखकों ने ही व्यक्तिप्रधान उपन्यासों को खतम करने की ओर प्रवृत्ति दिखलायी है।

भारतवर्ष में अभी उपन्यास-कला कल की उपज है। जैसा कि हम दिखा चुके, उपन्यास-साहित्य की उत्पत्ति के लिए यहाँ दो बातों की जरूरत थी, एक तो उसके उपयुक्त भाषा के विकास की, और दूसरी उपन्यासों की अधिक से अधिक प्रतियों के प्रचार के लिए छापेखानों की। अँगरेजों के भारतवर्ष में आने के पहले ये दोनों बातें यहाँ नहीं थीं। बँगला में भी अँगरेजों से पहले कोई कहने लायक गद्य नहीं था। राजा राममोहन राय ही बँगला के प्रथम गद्य-लेखक माने जाते हैं, यद्यपि यह स्मरण रहे कि बँगला की जो प्रथम गद्य पुस्तक मानी जाती है, वह राममोहन की लिखी हुई नहीं, बल्कि रामबसु का लिखा हुआ 'प्रतापादित्य चरित्र' था। 'प्रतापादित्य चरित्र' १८०१ में प्रकाशित हुआ था। राजा राममोहन ने इस पुस्तक की पांडुलिपि को शुद्ध किया था, किन्तु उनकी कोई निजी रचना १८१५ के पहले प्रकाशित नहीं हो सकी। राममोहन ने कोई उपन्यास नहीं लिखा, किन्तु बँगला गद्य को सभ्य समाज में प्रचलित कर उपन्यास के लिए आधार उत्पन्न किया। इसके बाद तो ईश्वरचंद्र विद्यासागर और एक के बाद एक लेखक आते गये, और बँगला गद्य का और साथ ही उपन्यास का जन्म हुआ। यह तो बताने की आवश्यकता ही नहीं है कि छापेखाने के जरिये से ही इस गद्य का प्रचार हुआ। बंकिमचंद्र जिस समय बँगला साहित्य में आये हैं, उसके पहले ही कुछ उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। इनमें समय की दृष्टि से 'नवबाबू विलास' १८२३ में प्रकाशित होने के कारण पुरानी रचना मानी जा सकती है। इन लोगों ने गद्य को कुछ दूर तक उपन्यासोपयोगी बनाया, किन्तु फिर भी बंकिमबाबू को उपन्यास रचना के साथ ही साथ गद्य की सृष्टि भी करनी पड़ी। उनको कुआँ खोदना और पानी पीना बल्कि पिलाना साथ ही साथ करना पड़ा।

जो काम बँगला में रामबसु, राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया, हिंदी में वही प्रक्रिया दूसरे तरीके से होती रही। बँगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के मुकाबले में दो दृष्टियों से भिन्न था, एक तो व्रज बोली की ओर कुछ थोड़ी-सी प्रवृत्ति के अतिरिक्त बँगला में जो पद्य की भाषा रही, वही बाद को गद्य की भाषा बनी। दूसरा, बँगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के प्राचीन साहित्य की तरह ऐश्वर्यशाली न होने के कारण अग्रगति में बाधक न हो सका। हिंदी के कवियों ने मुख्यतः व्रजभाषा और अवधी को ही माध्यम बना कर काव्य रचना की थी। इस बीच में भाषा में परिवर्तन हो चुका था, और

सार्वजनपदीय भाषा के रूप में खड़ी बोली का विकास हुआ था। खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर के पहले से था, ऐसा दिखलाया जा सकता है। गंग आदि ने इसका प्रयोग गद्य में भी किया, तथापि वह जनता की भाषा ही रही, साहित्यिक भाषा न हो सकी क्योंकि साहित्यकार पद्य की ओर झुके हुए थे, जिसमें व्रजभाषा और अवधी का प्रचलन था।

ऐसा मालूम होता है कि फोर्ट विलियम में खड़ी बोली की चर्चा के पहले मुलसमानों के राज्यकाल में ही खड़ी बोली कुछ-कुछ प्रचलित हो चुकी थी। डाक्टर कोतमिरे के अनुसार खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा थी और उसका उपयोग साधारण व्यवहार के लिए होता था। चिट्ठीपत्री लिखने के लिए भी इसका उपयोग होता था। सभ्य तथा शिष्ट समाज में प्रचलित होने के कारण इसमें कुछ पुस्तकें भी लिखी जा चुकी थीं।

भाषा योगवाशिष्ठ : पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी ने १६ वीं शताब्दी के आरम्भ से पहले ही भाषा योगवाशिष्ठ लिखी। कोतमिरे लिखते हैं—'भाषा योगवाशिष्ठ की भाषा बिलकुल ही साफ-सुथरी खड़ी बोली है और इस प्रकार की शृंखलाबद्ध साधु तथा व्यवस्थित भाषा अठारहवीं शताब्दी के मध्य काल तक किसी दूसरे उपलब्ध ग्रन्थ में नहीं मिलती। हिंदी गद्य के इस परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप को देख कर तत्कालीन प्रौढ़ गद्य लेखकों में इस ग्रंथ के रचयिता को प्रथम स्थान दिया जा सकता है।' योगवाशिष्ठ में गद्य का नमूना इस प्रकार मिलता है—

'हे मुनीश्वर ! यह मैंने विचार कर देखा है, इसमें सुख कछू नहीं अरु संतोष रूपी मेघ का नाश करनहारा यह शरत्काल है अरु इस मनुष्य में शुभ गुण तब लग दृष्टि आवे जब लग लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं भई। जब लक्ष्मी की प्राप्ति भई, तब गुण नाश पाते हैं।' कोतमिरे ने जो कुछ लिखा है, वह रामचंद्र शुक्ल के ही अनुसार है।

जैन पद्म पुराण : कोतमिरे आगे लिखते हैं—'दूसरा अनूदित ग्रंथ पं० दौलतराम कृत 'जैन पद्म पुराण' का भाषानुवाद है। इस ग्रंथ में 'योगवाशिष्ठ' की भाषा के समान शक्ति नहीं है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १७६१ ई० है, परंतु गद्य के विकास की दृष्टि से 'योगवाशिष्ठ' के अनुसार इसमें परिमार्जित गद्य की परम्परा नहीं मिलती। 'पद्म पुराण' की भाषा का नमूना इस प्रकार मिलता है—

'यह सुन सुकला की सखियाँ उससे बोलीं कि हे महाभाग्यवाली जिसके वसुदेवा व सुदेवा दो नाम हैं उसमें कौन से आचार देखे थे हमसे विस्तार से कहो क्योंकि तुमने अभी कहा है कि इस विषय में सुदेवा का चरित कहना है।'

'खड़ी बोली के तत्कालीन गद्य-साहित्य के विकास में मुसलमानों का योग अवश्य लक्षित होता है, परंतु 'योगवाशिष्ठ' तथा 'पद्म पुराण' की भाषा को देख कर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनकी भाषा, शैली और भावानुभूति पर मुसलमानों का कोई प्रभाव नहीं है। 'योगवाशिष्ठ' में जिस भाषा शैली का आदर्श मिलता है उसकी परम्परा को विकसित करने का कार्य मुंशी सदासुखलाल (१७४६-१८२४) ने किया। उनकी भाषा-शैली अवश्य ही 'योगवाशिष्ठ' से प्रभावित दिखायी पड़ती है।'

अब इस खड़ी बोली को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए बड़ी भारी लड़ाई लड़नी पड़ी। हिंदी साहित्य के विकास में यह लड़ाई बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दुख है कि अच्छे से अच्छे समीक्षकों ने इस लड़ाई को वह महत्त्व नहीं दिया है, जो इसका न्यायसंगत प्राप्य है। खड़ी बोली और व्रजभाषा के बीच हिंदी साहित्य के सिंहासन के लिए जो लड़ाई हुई है, उसमें यदि व्रज-भाषा की जीत होती तो जैसे आज हिंदी एक विराट भूखंड की साहित्यिक भाषा के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है, ऐसा न होता। उस हालत में आज जहाँ पर हिंदी है, वहाँ हमें सम्भव है कई साहित्यिक भाषाएँ दृष्टिगोचर होतीं। अवश्य यह कहना मुश्किल है कि खड़ी बोली की विजय तथा उसके साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अब हमेशा के लिए पृथक्-पृथक् जानपदिक भाषाओं की उत्पत्ति का मार्ग रुक गया।

जो कुछ भी हो, वर्तमान रूप में हिंदी उपन्यास-कला के उदय में खड़ी बोली का सर्वमान्य हो जाना एक बहुत बड़ी बात है। इस क्षेत्र में जो विजय हुई वह अभी कल की बात है, सच बात तो यह है कि व्रजभाषा और खड़ी बोली की लड़ाई में जो विराट संग्राम हुआ था, उसके तोपों की गड़गड़ाहट अभी तक सुनायी पड़ सकती है। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में इस युद्ध में खड़ी बोलीवालों की विजय हुई।

जहाँ तक छापेखानों की स्थापना का संबंध है, कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज से ही कुछ हिंदी पुस्तकें पहले प्रकाशित हो चुकी थीं, किंतु

जैसा कि डॉक्टर लाल ने लिखा है : 'उनकी संख्या बहुत कम थी, और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं था। आधुनिक काल का प्रारम्भ सन् १८३७ से होता है, जब दिल्ली में एक लिथोग्रेफिक प्रेस की स्थापना हुई, तभी से हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता रहा है।' (आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ० १५)।

जिन भू-भागों में आज हिंदी बोली जाती है, उन भू-भागों में वे ही लोक-कथाएँ तथा कहानियाँ प्रचलित थीं जो भारतवर्ष के अन्य स्थानों में प्रचलित थीं। डॉक्टर लाल ने यह लिखा है कि 'हिंदी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल तोता-मैना और सारंगा-सदावृज जैसी कहानियों में खोजना पड़ेगा, जिनका उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है। इन कथाओं का उल्लेख हमें कालिदास के समय से ही मिलता है।' दूसरे शब्दों में डॉक्टर लाल के वक्तव्य का यह अर्थ हुआ कि हिंदी उपन्यासों अथवा कहानियों के आदि-पुरुष की खोज में हमें उस युग में जाना पड़ेगा जब हिंदी थी ही नहीं, इसलिए उन युगों की कहानियाँ न केवल हिंदी कहानियों की बल्कि समस्त भारत की कहानियों की जननी थीं। डॉक्टर लाल ने जिस प्रकार आसानी से यह कह दिया कि तोता-मैना और सारंगा-सदावृज आदि कहानियों का उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है, आधुनिकतम खोजें ऐसे अनुमानों की पुष्टि नहीं करतीं। सच बात तो यह है कि कहानियों के विकास की खुद एक बहुत बड़ी कहानी है। हितोपदेश में जिन कहानियों को हम बचपन में पढ़ते हैं, वे न मालूम किस-किस रूप में कहाँ-कहाँ मौजूद हैं। केवल कोई अज्ञ व्यक्ति ही यह कहने का साहस कर सकता है कि अमुक कहानी निश्चित रूप से अमुक स्थान से ली गयी। जो कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी, बँगला आदि भारतीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में कहानियों की जो थाती मिली थी, वह किसी भी हालत में यूरोपीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त थाती से कम नहीं थी। फिर भी यहाँ यूरोप की तरह आधुनिक कथा-साहित्य की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकी, यह इस बात से समझ में आ जायगी कि यहाँ उस वर्ग का विकास ही नहीं हुआ जिसके तत्त्वावधान में, जिसकी देखरेख में तथा जिसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आधुनिक कथा-साहित्य की सृष्टि हुई। तभी हम देखते हैं कि ईसा के पहले ही भारतवर्ष का प्राचीन कथा-साहित्य बहुत समुन्नत होने पर भी, यूरोप में तो

चौदहवीं शताब्दी में बुक्कासियो, डकामरन (१३५३) तथा 'कन्टरबरी टेल्स' की रचना होती है, किन्तु भारतवर्ष में आधुनिक उपन्यास तथा कहानी-साहित्य का प्रारम्भ १६ वीं सदी के पहले नहीं हो पाता।

मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' : ऊपर जो लेखक गिनाये गये उनके बाद मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' बहुत महत्त्वपूर्ण लेखक हुए। उनको आधुनिक गद्य का प्रणेता कहा गया है। लाला भगवानदीन और रामदास गौड़ ने 'हिन्दी भाषा सार' नामक पुस्तक में 'सुरासुर निर्णय' नाम से मुंशी सदासुखलाल का एक निबंध उद्धृत किया है, जिसका रचनाकाल लगभग १७८२-८३ ई० है।

सुरासुर निर्णय : ऐसा मालूम होता है कि 'सुरासुर निर्णय' के लेखक उस युग के विचारों से बँधे थे, फिर भी उनकी रुचि स्वतंत्र चिंतन की ओर थी। इस संबंध में दो उद्धरण यथेष्ट होंगे—

'ब्रह्मा के यहाँ से किसी को चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी है कि वह ब्राह्मण है और वह चांडाल है।'

'विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य उसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उसके निजस्वरूप में लय हुजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहते लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और असत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धन-द्रव्य एक ठौरा कीजिये और मन जो कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिये।'

'सुरासुर निर्णय' को विवेचनात्मक निबंध माना गया है। हमें यहाँ इस संबंध में कुछ नहीं कहना है, पर हमने यह उद्धरण इसलिए दिया कि यह मालूम हो कि उस समय भाषा किस प्रकार खड़ी बोली की ओर जा रही थी।

इनके बाद एक गद्य लेखक रामचरण दास का पता मिलता है, जिनकी प्राप्त रचनाओं का काल १७८७ ई० के लगभग है। ऐसा मालूम होता है कि सदासुखलाल और रामचरण दास टिमटिमा कर रह गये और इसके बाद फोर्ट विलियम के युग तक किसी उल्लेख योग्य साहित्यिक रचना का पता नहीं मिलता। इसलिए इसे हिंदी गद्य युग का अंधकार युग भी कहा गया है।

इंशाअल्ला खाँ : इंशाअल्ला खाँ रचित 'उदयभानु चरित' या 'रानी

केतकी की कहानी' से हिंदी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ होता है। (आधुनिक कथा साहित्य, पृष्ठ २४)।

सैयद इंशाअल्ला खाँ के विषय में यह विशेष द्रष्टव्य है कि उनके पूर्वज समरकंद से भारतवर्ष में भाग्य की तलाश में आये थे। वे पहले मुगल दरबार के आश्रित हो कर रहे, किंतु उनके समय में मुगल साम्राज्य का रहा-सहा नाम भी जाता रहा, तब उनके पिता मुर्शिदाबाद जा कर बस गये। इंशा का जन्म यहीं हुआ। उन्हें अवध के नवाब आसफुद्दौला के दरबार में पहुँच कर ख्याति प्राप्त हुई। वे आसफुद्दौला और उसके बाद सआदतअली खाँ के मुँहलगे थे, पर अंत में किसी अवसर पर बात-बात में झगड़ा हो गया, जिसके फलस्वरूप वे कष्ट में समय काटते हुए मर गये।

इस प्रकार उनको जीवन के संबंध में बहुत विलक्षण तजर्बे हुए थे। विदेशी होते हुए भी उन्होंने उर्दू पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। हिंदी गद्य के तो खैर वे प्रवर्त्तकों में गिने जा सकते हैं। भाषा के संबंध में इनके क्या आदर्श थे, यह इन्हीं के शब्दों में सुना जाए—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिंदी छुट और किसी बोली का पुट न मिले ; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ इसके बीच में न हो..... एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डांग, बूढ़े, घाग यह खटराग लाये.....और लगे कहने, यह बात होती दिखायी नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले, और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, और छाँव किसी की न पड़े, यह नहीं होने का।' (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ६४१)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा को अपनाने की ओर है, अवश्य बोलचाल की भाषा से मतलब अच्छे से अच्छों की अर्थात् उच्चवर्ग की बोलचाल से है। अभी तो हमारे साहित्य में दूसरे लोगों की बोलचाल का प्रश्न बीसियों वर्ष तक उठने का नहीं है, फिर भी उस युग में जिस पंडिताऊ तथा मौलवियाना शैली की ओर लोगों का झुकाव था उसको देखते हुए, इस प्रवृत्ति को प्रगतिशील मानना पड़ेगा। श्री गुलाबराय ने इस संबंध में सही रूप से लिखा है—'भाखापन से मुसलमानों का अभिप्राय संस्कृत मिश्रित हिंदी से था।

.....इंशाअल्ला की भाषा में शुद्ध हिंदी रूप दिखायी पड़ता है, किन्तु उसमें फारसी का प्रभाव लक्षित होता है।' इंशाअल्ला के सामने भाषा का निर्माण कर तब उसमें लिखने का सवाल था, इस प्रकार उनका कार्य दोहरा कठिन था।

रानी केतकी की कहानी : इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' में प्राचीन कथाओं की परम्परा का अनुसरण किया। इस कथा के दो नाम थे—'उदयभानु चरित' या 'रानी केतकी की कहानी।' इससे यह कहा गया है कि चरित और कहानी-शैली का इसमें एक साथ निर्वाह करने की कोशिश की गयी है। इसमें पहले पूर्वानुराग, प्रेम में बाधा, विरह और अंततोगत्वा मिलन दिखाया गया है। यत्र-तत्र योगी और सिद्ध अपनी करामात भी दिखाते हैं। डॉ० कोतमिरे लिखते हैं, 'इसमें कथा-साहित्य के तत्त्व मिलते हैं और यह पात्र-परिचय, वातावरण और कथोपकथन की दृष्टि से खड़ी बोली की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।'

लल्लूलाल जी और सदल मिश्र : 'रानी केतकी की कहानी' के साथ-साथ सदल मिश्र (लगभग १७७३-१८४६) रचित 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' का भी इस अवसर पर उल्लेख किया जा सकता है। यह पुस्तक फोर्ट विलियम कालेज में लिखी गयी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने कर्मचारियों का देशी भाषाओं से परिचय कराने के लिए एक कालेज खोला था, इसमें लल्लूलाल जी और सदल मिश्र हिंदी के अध्यापक नियुक्त हुए।

कई कारणों से लल्लूलाल जी समसामयिक हिंदी लेखकों में अधिक विख्यात हुए। इनका जन्म १८२० सं० में हुआ। इन्होंने हिंदी का अध्ययन किया और बाद को पिता का देहान्त होने पर नौकरी की खोज में मुर्शिदाबाद, नाटोर आदि होते हुए कलकत्ता पहुँचे। वहाँ वे १८०० ई० में अध्यापक नियुक्त हुए। कहते हैं वहाँ वे २४ वर्ष तक कार्य करते रहे। बाद को वे आगरा चले गये। इनकी तीन कहानी पुस्तकों का पता मिला है, जो व्रजभाषा से खड़ी बोली में अनूदित हैं। इन पुस्तकों के नाम 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी' तथा 'माधवानल' हैं। बाद को चल कर इन्होंने 'राजनीति' नाम से हितोपदेश का भी अनुवाद किया। उन्होंने 'लतायफ हिंदी' नाम की एक पुस्तक की रचना की जो कई भाषाओं से संकलित है।

लल्लूलाल जी की भाषा : भाषा के क्षेत्र में लल्लूलाल जी ने बहुत बड़ा कार्य

किया कि उन्हें गिलक्रिष्ट ने प्रामाणिक हिंदी की रचना का भार ह एक द्रष्टव्य बात है कि उन्होंने व्रजभाषा की पुस्तकों का अनुवाद ी में किया। इससे भी स्पष्ट है कि हवा किस ओर बह रही थी। फिर वयं आगरा के रहनेवाले थे, इसलिए उनकी भाषा में व्रजभाषा मिलता है। इसके अलावा अभी तक व्रजभाषा और खड़ी बोली की में व्रजभाषा की निर्णयात्मक पराजय नहीं हुई थी। लल्लूलाल जी का नुवाद के क्षेत्र में ही रहा, पर निरे अनुवादक होते हुए भी उन्हें खड़ी बोली ाने का जो मौका मिला, वह बाद के बड़े-बड़े भारतविख्यात लेखकों को सीब नहीं हुआ। उनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है —

'श्री शुकदेव मुनि बोले — महाराज ! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी जीव-जंतुओं की दशा विचार चारों ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण-वर्ण की घटा जो घिर आयी थी सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बग पाँत ठौर-ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी-बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।'

इन्होंने व्रजभाषा में भी दो संग्रह ग्रंथ तैयार किये जिनका नाम 'माधव विलास' और 'सभा विलास' था। रामचंद्र शुक्ल ने इनके द्वारा लिखित 'लाल चंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की एक टीका का भी उल्लेख किया है।

इस कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिष्ट ने सदल मिश्र को भी इस बात का भार सौंपा कि वे हिंदी पाठ्य-पुस्तकों की रचना करें, जिससे हिंदी सीखने वालों को आसानी हो। उन्होंने कई पुस्तकें (अनुवाद) लिखीं, पर अब केवल चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान ही प्राप्य है। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी ने हिंदी के निर्माण में जो कार्य किया वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, अवश्य उन्होंने अपने उद्देश्यों की पूर्ति यानी राज्य-स्थापना और उसे मजबूत बनाने के लिए, ईसाई धर्म प्रचार के लिए ही ऐसा किया था, इसमें संदेह नहीं। इन लोगों ने खड़ी बोली को ही अपनाया, किंतु यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी, बल्कि उनका उद्देश्य खड़ी बोली से ही सिद्ध होता था, इसीलिए उसे अपनाना स्वाभाविक था। फिर भी सदल मिश्र छलाँग मार कर खड़ी बोली को अपना न सके,

बल्कि हरिऔध के अनुसार उनकी भाषा खड़ी बोली और व्रजभाषा के बीच में थी। अभी भाषा में प्रयोग हो रहे थे। हम इसलिए स्वाभाविक रूप से उनकी पुस्तकों में शुद्ध खड़ी बोली का दर्शन नहीं पाते। इनकी भाषा में व्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। वे बहुवचन व्रजभाषा के तरीके से 'न' लगा कर बनाते थे। कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी प्रभाव है, फिर भी भाषा को सरल बनाने की ओर उनका प्रयास स्पष्ट है।

राजा शिवप्रसाद : राजा शिवप्रसाद (१८२३-६३ ई०) ने राजा भोज का सपना लिखा और कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। उन्होंने उर्दू मिश्रित हिंदी लिखी। उनकी भाषा अब भी आधुनिक उपन्यास के उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें अनुप्रास की भरमार है, और बहुत से स्थानों पर तुकबंदी पूर्ण रूप से मिलती है। श्री गुलाबराय ने इस पर ठीक ही लिखा है कि 'यद्यपि लोग भाषा में सरलता लाने का उद्योग करते थे, तथापि वे सर्वथा पद्य के प्रभाव से मुक्त न थे।'

राजा शिवप्रसाद ने हिंदी के क्षेत्र में जो कार्य किया, वह सम्पूर्ण रूप से उस युग का द्योतक है जबकि खड़ी बोली की जीत तो लगभग हो चुकी थी, पर अभी आजकल हम जिसे हिंदी कहेंगे यानी उर्दू से अलग हिंदी का अच्छी तरह विकास नहीं हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय भले ही साहित्यिक क्षेत्र में कुछ छिटपुट हिंदी रचना के प्रयत्न हो रहे हों और आज भले ही हम उन्हें महत्त्व दें, पर अभी उस युग के शिष्ट समाज में उर्दू-फ़ारसी का ही बोलबाला था। स्वयं राजा शिवप्रसाद ने उस समय की परिस्थिति का यों वर्णन किया है—

'हिंदू लोग न केवल आपस के बीच फारसी में चिट्ठी-पत्री जारी रखते थे वरन् अपने घर का हिसाब भी फारसी में लिखते थे। उस वक्त हिंदू मुसन्नियों का हाल जो सर हेनरी इलियट साहिब ने अपनी किताब में दर्ज फरमाया है लायक देखने के है। साहब मौसूफ़ लिखते हैं कि हिंदू मुसन्निफ तसनीफ में कोई बात ऐसी नहीं है, जिससे उसकी कौम और उसका मज़हब जाहिर हो सके।' (भाषा का इतिहास — राजा शिवप्रसाद, हिंदी भाषासार से उद्धृत, पृष्ठ ४४-४५)।

वे स्वयं शिक्षा विभाग में नौकर थे और वहाँ उर्दू फारसीवालों की प्रधानता थी, इसलिए वे खुल कर सामने नहीं आये। ऐसा मालूम होता है कि

इस कारण कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये और उन पर दोष लगाया। राजा साहब ने अपनी सफाई देते हुए लिखा—'ऐसी शुद्ध चाहनेवालों को हम इस बात पर यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी है इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।.........जब यह सवाल पैदा हो सकता है तो हम लोगों को क्या-क्या करना चाहिए, किस तरह फिरना चाहिए जिसमें हमको सीधी राह मिले ?'

इससे स्पष्ट है कि वे भाषा के संबंध में किसी नीति पर पहुँच नहीं पा रहे थे। जब लोगों ने उनका अधिक विरोध किया, तो वह खुल कर उर्दू के पक्ष में आ गये। उनकी सेवाएँ भाषा निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि युग के प्रभाव के अनुसार वे ढुलमुल यकीनी से बच नहीं पाये और दो तरह के कट्टर पंथियों के बीच में पड़ कर उनका अजीब हाल रहा।

राजा लक्ष्मणसिंह : इस प्रसंग में हम हिंदी गद्य का पूरा इतिहास नहीं लिखने जा रहे हैं। हम केवल उन्हीं धाराओं तथा प्रवृत्तियों का उल्लेख भर कर देना चाहते हैं जिनसे प्रेमचंद के भाषा-निर्माण पर प्रभाव पड़ा। राजा शिवप्रसाद के बाद अगला नाम जो उल्लेखनीय है, वह है राजा लक्ष्मणसिंह का। यह ठीक ही लिखा गया है कि राजा शिवप्रसाद ने जो सेवाएँ कीं, वह यह थीं कि उन्होंने हिंदी लिपि में उर्दूवालों में हिंदी को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, जबकि राजा लक्ष्मणसिंह ने भाषा और लिपि दोनों दृष्टियों से हिंदी को उर्दू से अलग करने में बहुत निर्णयात्मक कदम उठाया। आज इस बात पर विचार करना व्यर्थ है कि हिंदी को उर्दू से सम्पूर्ण रूप से अलग करने की प्रक्रिया अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय दृष्टि से यहाँ तक कि हिंदी क्षेत्र की दृष्टि से अच्छी हुई या बुरी हुई। जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है ही कि इस पृथक्करण की प्रक्रिया के ही कारण हिंदी क्षेत्र में यह अजीब और लगभग अविश्वास्य परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि एक ही गाँव का मुसलमान अपनी भाषा उर्दू मानने लगा और उसी गाँव का हिंदू अपनी मातृभाषा हिंदी मानने लगा।

राजा लक्ष्मणसिंह के समय यह परिस्थिति नहीं थी, पर यह परिस्थिति पैदा की गयी। स्वयं राजा लक्ष्मणसिंह ने इस संबंध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही मार्के का है—

'हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिंदी इस देश के

हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी-फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हैं।'

हम देखेंगे कि बाद को चल कर पंजाबी क्षेत्र में इसी तमाशे की पुनरावृत्ति हुई, पर हमें यहाँ उससे कोई संबंध नहीं।

अपने विषय पर लौटते हुए हम देखते हैं कि राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजा हितैषी' नाम से एक पत्र निकाला और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र : भारतेंदु हरिश्चंद्र (१८५०-८४) के नाम से हिंदी में एक युग ही चल गया है। इस समय तक हिंदी में दो धाराएँ चल रही थीं, एक हिंदी को संस्कृत बना डालना चाहती थी, दूसरी उसे उर्दू बना देने के लिए उद्यत थी। भारतेंदु ने इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण किया। 'वे न तो हिंदी को उर्दू बनाना चाहते थे न संस्कृत। वे हिंदी को उसका निजी रूप देना चाहते थे..... भारतेंदुजी अपनी भाषा में संस्कृत के उन शब्दों को स्थान देते थे, जिनका व्यवहार रोजाना की बोलचाल में होता, और उर्दू के उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते थे जिनको जनता ने अपना लिया था।' (हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास)। दूसरी ओर हिंदी भाषा को वर्तमान रूप प्रदान करने में उनका और भी दान है। वे जिस युग में थे उस युग में गद्य में तो खड़ी बोली स्वीकृत हो चुकी थी और उसका रूप बहुत कुछ निखर चुका था, किंतु पद्य में अभी यह झगड़ा चल रहा था कि व्रजभाषा कविता की भाषा रहे अथवा खड़ी बोली ही कविता में अपनायी जाय। भारतेंदु स्वयं व्रजभाषा के विद्वान् थे, और व्रजभाषा में कविता लिखने में उन्हें बहुत सफलता भी मिल चुकी थी, किन्तु उन्होंने युग के ढाल को देख कर खड़ी बोली में कविता लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने खड़ी बोली में कुछ कविताएँ यह देखने के लिए लिखीं कि वे सफल रहती हैं या नहीं, और उन कविताओं को उन्होंने 'भारतमित्र' में प्रकाशित करवाया। पहली सितम्बर १८८१ के 'भारतमित्र' में उन्होंने अपने छंद के साथ यह पत्र भी छपाया था—

'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा इसमें क्या कसर है, और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य सौन्दर्य बन सकता है। इस में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायेगा।' (भारतेंदु युग, पृष्ठ १६८)।

खड़ी बोली में कविता लिखने में भारतेंदु को प्रोत्साहन न मिला, इसलिए उन्होंने इस दिशा में आगे परिश्रम नहीं किया। उस युग में व्रजभाषा और खड़ी बोली के तुलनात्मक गुणावगुण पर बहुत तुमुल वादविवाद चल रहा था, जैसा कि डॉक्टर रामविलास ने लिखा है। बाद को व्रजभाषा प्रेमियों ने इस संबंध में भारतेंदु को कविता में सफलता न मिलने की बात को एक तर्क के रूप में इस्तेमाल किया और कहा कि जब भारतेंदु को ही कविता में सफलता न मिली तो और कवि किस गिनती में हैं। इस संबंध में खड़ी बोली की अंतिम विजय के लिए अभी कुछ और समय की आवश्यकता थी।

भाषा को इस प्रकार निखार कर आधुनिक वाहन बनाने में बहुत बड़ा हाथ बटाने के अतिरिक्त भारतेंदु ने लगभग १०० पुस्तकें लिखीं (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ५०६), जिनमें चौदह नाटक और कई प्रहसन भी थे। इस प्रकार हिंदी-साहित्य में उनका दान बहुत भारी है, किंतु इस स्थान पर उनके नाम का उल्लेख इसलिए विशेष रूप से किया जा रहा है कि खड्ग विलास प्रेस से 'पूर्ण प्रकाश चंद्र प्रभा' नामक एक उपन्यास उनके नाम से प्रकाशित हुआ था। (अवश्य इस उपन्यास के असली रचयिता कौन हैं इस संबंध में मतभेद है। शिवनंदन सहाय के अनुसार यह किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है। भारतेंदु ने केवल इसकी पांडुलिपि को शुद्ध कर यत्र-तत्र इसमें परिवर्तन किये थे)। श्री गंगाप्रसाद के अनुसार इस पुस्तक के कथानक में रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों के सधर्म प्रदर्शन के पश्चात् प्रगति की विजय होती है। इसके अतिरिक्त कविवचनसुधा नामक अपनी पत्रिका में उन्होंने कुछ आपबीती कुछ जगबीती नाम से एक कहानी प्रकाशित करना शुरू किया था, किन्तु उसे पूरा न कर सके।

इस कहानी के संबंध में ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि 'उसका कितना अंश लिखा गया यह ज्ञात नहीं है।' उनकी धारणा है—'अवश्य ही यदि यह पूरा लिखा गया होता तो हिंदी-साहित्य में अद्भुत वस्तु होती।' हम इस अंश को 'हिंदी उपन्यास साहित्य' से उद्धृत करते हैं—

एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' का प्राप्त अंश

प्रथम खेल

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या क्या ?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे कैसे ?

'हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है। सं० १६३० में मैं जब तेईस बरस का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था। वसंत ऋतु, हवा ठंडी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चंद्रमा दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल-लाल, अजब समा बँधा हुआ। कसेरू, गडेरी और फूल बेचनेवाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी के उमँगों में चूर, जमाने के ऊँच नीच से बे खबर, अपनी ठिसकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे शिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहचानता था।

'कोई कहता था आपसे सुंदर संसार में नहीं, कोई कसमें खाता था, आपसा पंडित मैंने नहीं देखा, कोई पैगाम देता था चमेली जान आप पर मरती हैं, आपके देखे बिना तड़प रही हैं। कोई बोला, हाय ! आपका फलाना कवित्त पढ़ कर रात भर रोते रहे। दूसरे ने कहा, आपकी फलानी गजल लाला रामदास की सैर में जिस वक्त प्यारी ने गायी सारी मजलिस लोट-पोट हो गयी। तीसरा ठंडी साँस भर कर बोला, धन्य हैं, आप भी गनीमत हैं। बस क्या कहें कोई जी से पूछे। चौथा बोला, आपकी अँगूठी का पन्ना क्या है काँच का टुकड़ा है या कोई ताजी तोड़ी हुई पत्ती है। एक मीर साहब चिड़ियावाले ने चोंच खोली, बेपर की उड़ायी, बोले कि आपके कबूतर किससे कम हैं। वल्लाह कबूतर नहीं परीजाद हैं, खिलौने हैं, तस्वीर हैं। इमा पर साया पड़े तो शहबाज़ बना दें। ऐसे ही खूबसूरत जानवरों में ईसाई लोग खुदा का नूर उतरना मानते हैं। इनको उड़ते देख कर किसके होश नहीं उड़ते, कसम कला-मुल्लाह शरीफ की, मटियाबुर्जवालों ने ऐसे जानवर ख्वाब में नहीं देखे। एक दलाल घोड़े की तारीफ कर उठा। जौहरी ने खच्चरों की तरफ बाग मोड़ी। बजाज बाग की स्तुति में फूल-बूटे कतरने लगा। सिद्धान्त यह कि मैं बेचारा अकेला और वाहवाहें इतनी

कि चारों ओर से मुझे दबाये लेती थीं और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पड़ती थीं।

'यह तो दीवानखाने का हाल हुआ, अब सीढ़ी का तमाशा देखिए। चार-पाँच हिंदू, चार-पाँच मुसलमान सिपाही, एक जमादार, दो-तीन उम्मेदवार और दस बीस उटल्लू के चूल्हे, कोई खड़ा है, कोई बैठा है, हाय रुपया, हाय रुपया सबके जबान पर, पर इसमें सब ऐसे ही नहीं कोई-कोई सच्चा स्वामिभक्त भी है। कोई रंडी के भड़ुए से लड़ता है, रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा। कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न ओढ़ाओगे तो बरसों पड़े भूलोगे, रुपये के नाम खाक भी न मिलेगी। कोई दलाल से अलग सट्टा-बट्टा लगा रहा है। कोई इस बात पर चूर है कि मालिक का हमसे बढ़ कर कोई भेदी नहीं। जो रुपया कर्ज आता है हमारी मारफत आता है। दूसरा कहता है बचा, हमारे आगे तुम क्या पूगलचर हो, औरतों का भुगतान सब मैं ही करता हूँ।

'इन सबों में से एक मनुष्य को आप लोग पहचान रखिए, इससे बहुत काम पड़ेगा। यह नाटा, खोटा, अच्छे हाथ-पैर का, साँवले रंग का आदमी है, बड़ी मोंछ, छोटी आँखें, कछाड़ा कसे, लाल पगड़ी बाँधे, हरा दुपट्टा कमर में लपेटे, सफेद दुपट्टा ओढ़े, जात का कुनबी है। इसका नाम होली है। होली आजकल मेरे मुँह बहुत लग रहा है, इसी से जो बात किसी को मुझ तक पहुँचानी होती है, वह लोग उससे कहते हैं। रेवड़ी के वास्ते मस्जिद गिरानी इसी का काम है।'

इस प्रकार उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में वे स्वयं विशेष सफल नहीं रहे, किंतु फिर भी उन्होंने अपनी देख रेख में कई उपन्यासों की रचना करवायी। इन बातों के कारण भारतेंदु का नाम इस अवसर पर भी अवश्य उल्लेखनीय हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट : पंडित बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४) ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (प्रथम प्रकाशन १८७७) और 'सौ अजान एक सुजान' पुस्तक लिखी। उनकी भाषा में मुहावरों का खूब प्रयोग है, और वे बोलचाल के शब्दों का खूब प्रयोग करते थे।

हाँ, कहीं-कहीं लम्बे उपदेशों का बाहुल्य है और उनसे पाठक का जी ऊबने लगता है। डॉक्टर रामविलास के अनुसार, 'इन दोषों के होते हुए भी उपन्यास-कला के विकास में इस कृति का विशेष स्थान है। यथार्थ चित्रण की ओर

इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गयी है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में। पढ़े-लिखे बाबू लोगों की भाषा में अँगरेजी का भी पुट रहता है। 'मैं आप लोगों के प्रयोजन को सेकंड करता हूँ' इत्यादि। कहीं-कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वतः और प्रकाश्य दोनों प्रकार से बातचीत करते हैं। भट्ट जी ने अपने उपन्यास को देश-काल की सीमाओं में मजबूती से बाँधा है। उन्होंने पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है।.........भट्ट जी कोरे किताबी विद्वान् नहीं थे। स्त्रियों के सूप फटकारने और हाथ नचा कर वाग्बाण बरसाने को उन्होंने उतने ही ध्यान से सुना था जितने ध्यान से मेघदूत पढ़ा था।..... .....चरित्र-चित्रण में भट्ट जी आकृति निदान की ओर विशेष आकृष्ट थे।.............. व्यंग्यपूर्ण चित्रण में वे प्रेमचंद की याद दिलाते हैं जैसे बुद्धदास जैन का चित्र—'पानी चार बार छान कर पीता था, पर दूसरे की थाती समूची निगल जाता था, डकार तक न आती थी।'

'सौ अजान एक सुजान' का कथानक क्या है, इसके संबंध में भी एक वाक्य में बता दिया जाये। सेठ हीराचंद के दोनों लड़के पिता की मृत्यु के बाद कुसंगति में पड़ जाते हैं, और अंत में उनका एक सुजान मित्र संकट से उनकी रक्षा करता है। मालूम होता है कि इस प्रकार का कथानक उस युग में बहुत पसंद किया जाता था, क्योंकि हम देखेंगे कि परीक्षा-गुरु नामक जिस पुस्तक को हिंदी के प्रथम उपन्यास के रूप में गौरव प्राप्त हुआ है, उसका भी कथानक कुछ इसी प्रकार है। इस प्रकार के कथानक में अंतर्निहित उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत ही स्पष्ट है। हम बालकृष्ण भट्ट की इस रचना में ही आगे आनेवाले युग के लेखकों विशेषकर प्रेमचंद के आगमन की सूचना पा सकते हैं। भाग्य की परख नाम से इनकी एक कहानी का भी पता लगता है।

प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के संबंध में श्री रामचंद्र शुक्ल यह कहते हैं कि इन दोनों ने हिंदी-साहित्य में वही काम किया जो अँगरेजी साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

नूतन ब्रह्मचारी : बालकृष्ण भट्ट के सौ अजान एक सुजान के संबंध में हम पहले ही कुछ बता चुके हैं। उनके दूसरे उपन्यास नूतन ब्रह्मचारी के संबंध में थोड़ा-सा ब्योरा दिया जाता है। यह एक लघु उपन्यास है। विनायक एक

चरित्रवान और सुशील युवक है। इसके अलावा इस उपन्यास में डाकुओं का सरदार भी एक पात्र आता है। लेखक का उद्देश्य बालकों को नैतिक आदर्श बताना है। लेखक अपने निवेदन में कहते हैं—'हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारे बालकों को पढ़ाने के लिए यह कितनी शिक्षा-प्रद है और शिक्षा-विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।'

डाक्टर कोतमिरे ने यह ठीक ही कहा है कि 'इसका असली उद्देश्य शिक्षा दान है। डाकुओं का सरदार आदर्श चरित्र विनायक से जो कुछ कहता है उससे कुछ हृदय-परिवर्तन का व्यावहारिक रूप सामने आता है। सरदार कहता है—'विनायक, तुम्हारे माता-पिता को धन्य है। निस्संदेह तुम्हारा सा सुशील बालक पा कर वे बड़भागी हैं। वे आएँ तो उनसे कहना कि आज तीन डाकू जिन्होंने बड़े-बड़े बहादुरों से हथियार रखवा लिये थे यहाँ लूटने को आये थे। पर तुमने उनके साथ ऐसी अच्छी रीति से बरताव किया कि उनके सरदार का मन फिर गया और उन लोगों की हिम्मत लूटने की न पड़ी। भगवान तुम्हारी कुशल करे और तुम्हारी सब तरह से रक्षा करे। तपोधन पूज्य पिता जी से कह देना कि वे दो दिन बाद फिर तुम्हारा दर्शन करेंगे।' (नूतन ब्रह्मचारी-द्वितीय संस्करण, सन् १६०३, छठवाँ परिच्छेद, पृष्ठ २४)।

श्रीनिवासदास : यों तो श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७) के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास के पहले कई उपन्यासों की रचना हुई, किंतु इसी ग्रंथ को हिंदी के पहले उपन्यास का गौरव प्राप्त हुआ है। इसके शीर्षक नीति तत्त्वों के समर्थन में उद्धृत अँगरेजी-हिंदी कविता के रूप में हैं, कथोपकथन में भी अँगरेजी पुट है। परंतु कथा अपने ही समय के समाज की है, और उसमें आदर्श नहीं, यथार्थवाद के ही दर्शन होते हैं। परीक्षा-गुरु को हिंदी के प्रथम उपन्यास होने का गौरव इसलिए प्राप्त हुआ, कि इस पर अँगरेजी लेखनशैली का प्रभाव है, तथा इसके कथानक की बनावट में समसामयिक समाज का अच्छा प्रतिफलन हो सकता है। रानी केतकी की कहानी तथा नासिकेतोपाख्यान में यह बात संभव नहीं थी। लाला श्रीनिवासदास ने तीन नाटक भी लिखे। इनके नाटकों में भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनकी 'रणधीर प्रेममोहनी' नामक नाटिका दुखान्त है। यह भी पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है, ऐसा बताया गया है। इनकी भाषा में वह जड़ता जो पहले के लेखकों में बहुत अधिक थी, करीब-

करीब जाती रही है, और अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आधुनिक उपन्यास के लिए उपयुक्त वाहन का विकास कुछ हद तक हो चुका है।

ऐसा मालूम होता है कि श्रीनिवासदास अँगरेजी के अच्छे विद्वान् थे और अँगरेजों से भी उनका मिलना-जुलना था। वे अँगरेजी उपन्यास पढ़ा करते थे। उन्हें वे उपन्यास पसन्द आये, इसीलिए उन्होंने हिंदी में उस शैली की पुस्तक लिखने का उद्देश्य रख कर परीक्षा गुरु की रचना की। उन्होंने अपने उपन्यास के निवेदन में लिखा था—'मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गयी, इसलिए अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक होगी।' इस पुस्तक में उन्होंने भाषा संबंधी क्या नीति रखी, यह भी उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—'संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनायी हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गयी है। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया हो, वहाँ विबस हो कर कुछ संस्कृत आदि लेने पड़े।'

परीक्षा गुरु पर एक दृष्टि : जहाँ-तहाँ अँगरेजी संस्कृत उद्धरण भी दिये गये हैं। बातचीत में योरोपीय इतिहास के दृष्टांत बार-बार दिये जाते हैं। श्री ब्रजरत्नदास ने इस उपन्यास का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह उद्धृत किया जाता है।

"मदनमोहन नामक एक रईस का इस उपन्यास में चित्रण किया गया है, जो चापलूस तथा स्वार्थी मित्रों से घिरा है। एकाध निःस्वार्थ प्रेमी मित्र भी हैं जो उसे सुमार्ग पर लाने का बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। अंत में मदनमोहन अपना धन खो कर ऋणग्रस्त हो जाता है और डिग्रियों के कारण हवालात में बंद होता है। स्वार्थी मित्रगण उसे इसी दशा में छोड़ कर अलग हो जाते हैं। केवल एक वही निःस्वार्थी मित्र ब्रजकिशोर उसकी सहायता करता है। मदनमोहन की स्त्री अपना कुल आभूषण ब्रजकिशोर को दे कर उन्हें हवालात से लौटा लाने को बाध्य करती है। ब्रजकिशोर पर मदनमोहन के पिता का उपकार था और उसकी स्त्री ने उसे भाई माना था। वह वकील भी था, अतः उसने अदालत में पूरी पैरवी कर झूठे ऋणदाताओं को पस्त किया और लहना उतार कर मदनमोहन को ऋणमुक्त करा दिया तथा छुड़ा लाया।

"कथावस्तु विशेष जटिल नहीं है, पर जो है वह सुगठित है। यह विशेष अनुरंजनकारी भी नहीं है। चरित्र चित्रण भी साधारण है, पर ब्रजकिशोर तथा मदन-मोहन की पत्नी का चित्रण स्पष्ट है। कृतघ्न मित्रों के छोटे-छोटे चित्र भी सजीव से हैं।

उपदेश तथा सुसम्मति देने का अधिक प्रयास है और अनेक ग्रंथों से नीति के ऐसे बहुत से उद्धरण संकलित कर इस उपन्यास में दिये गये हैं। इससे लेखक की अध्ययनशीलता मालूम होती है, पर इसकी अधिकता से पाठक कहीं-कहीं ऊब सा जाता है। भाषा विशेष संयत तथा पात्रों के अनुकूल रखी गयी है। एक उदाहरण लीजिए—

'मुझ से इस समय तेरे सामने आँख उठा कर नहीं देखा जाता, एक अक्षर बोला नहीं जाता। मैं अपनी करनी से अत्यंत लज्जित हूँ जिस पर तू अपनी लायकी से मेरे घायल हृदय को क्यों अधिक घायल करती है? मुझको इतना दुख उस कृतघ्न मित्रों की शत्रुता से नहीं होता जितना तेरी लायकी और अधीनता से होता है। तू मुझको दुखी करने के लिए यहाँ क्यों आई? तैंने मेरे साथ ऐसी क्यों प्रीति की? मैंने तेरे साथ जैसी क्रूरता की थी वैसी ही तैंने मेरे साथ क्यों न की? मैं निस्सन्देह तेरी इस प्रीति के लायक नहीं हूँ फिर तू ऐसी प्रीति करके क्यों मुझे दुखी करती है?' लाला मदनमोहन ने बड़ी कठिनाई से आँसू रोक कर कहा।"

राधाकृष्णदास : इन्हीं के समसामयिक श्री राधाकृष्णदास ने सोलह वर्ष की आयु में भारतेंदु की आज्ञा से 'निःसहाय हिंदू' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक के नाम ही से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कहानी का संबंध हिंदू समाज से है। डाक्टर रामविलास इस पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखते हैं— 'इस पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि लेखक ने सेठ-साहूकारों के लड़कों के बनने-बिगड़ने की कहानी छोड़ कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथा-वस्तु बनाया है, जिसका संबंध किसी वर्ग से नहीं, वरन् पूरे समाज से है। हिंदुओं के बारे में लिखते हुए वे मुसलमानों को नहीं भूले और उनमें साम्प्रदायिक और देशभक्त दोनों प्रकार के मुसलमानों का चित्रण किया है। दो मित्र गोवध बंद करने के लिए आन्दोलन करते हैं, उनका साथ एक मुसलमान सज्जन भी देते हैं। अन्य कट्टरपंथी मुसलमान षड्यंत्र करके इन लोगों को मार डालना चाहते हैं, और अंत में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं, यही उसकी कथा है।'

'निःसहाय हिंदू' में जो कथा वर्णित है, उसके कहने में लेखक ने कुछ विशेष कौशल नहीं दिखाया है, आजकल के ढंग के उपन्यास पढ़ने के आदी पाठक शायद उसे अंत तक पढ़ने का कष्ट न उठा सकें। कथानक सुसंगठित नहीं है, पात्रों की संख्या आवश्यकता से कहीं अधिक है, किंतु इस कहानी के

पैर यथार्थ की भूमि पर ही टिके हैं। पात्र केवल कल्पना जगत के नहीं हैं। कुछ जातीयता का भी पुट है। मदन नामक एक नेता को व्याख्यान देते हुए दिखाया जाता है, वे भारतवासियों के आलस्य का वर्णन करते हैं, और उन पर जो अधिक टैक्स लगा हुआ है, उस पर अफसोस प्रकट करते हैं। साथ ही गंदी गलियों और कोठरी के टाटों के वर्णन की ओर उनकी जो प्रवृत्ति थी, वह भारतीय उपन्यास-साहित्य में पहला प्रयत्न था, ऐसा बतलाया गया है। यह प्रथम प्रयत्न की बात जहाँ तक हिंदी उपन्यास साहित्य का संबंध है, सही है, किंतु बँगला में इससे पहले ही दीनबंधु मित्र तथा अन्य लेखकों ने गरीबों के जीवन का मार्मिक चित्रण किया था। फिर भी हम डाक्टर रामविलास के इस मंतव्य से सहमत हैं कि 'निस्सन्देह राधाकृष्णदास में एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीज रूप में विद्यमान थी ; यदि उसे विकास का अधिक अवसर मिलता तो प्रेमचंद का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।'

राधाचरण गोस्वामी : राधाचरण गोस्वामी (१८५८-१९२५) ने बहुत से उपन्यासों का अनुवाद किया, जिनमें 'विरजा' का नाम प्रमुख है। मालूम होता है, इनकी प्रतिभा मुख्यतः अनुवाद संबंधी ही थी, इसलिए यह कहा है कि 'खेद की बात है कि जो प्रतिभा उन्होंने 'यमपुर की यात्रा' में दिखलायी उसे उन्होंने मौलिक उपन्यास रचना में नहीं लगाया।' (भा० प्र० पृ० १३२-१३३)।

राधाचरण गोस्वामी अच्छे नाटककार भी थे। यों तो इस प्रसंग में नाटकों से हमें मतलब नहीं है, किंतु 'बूढ़े मुँह मुहासे' नामक अपने नाटक में इन्होंने 'किसान और जमींदार के संघर्ष को अपनी कथावस्तु बनाया है, और उसमें भी मुसलमान और हिंदू किसानों की एकता दिखा कर गाँवों के वर्ग-युद्ध और हिंदू-मुस्लिम समस्याओं पर प्रकाश डाला है,' इसलिए इस प्रसंग में भी इनके नाटक का उल्लेख करना जरूरी है। इस दृष्टि से देखने पर राधाचरण गोस्वामी ने प्रेमचंद से पहले किसान-जमींदार के वर्गयुद्ध का चित्रण अपने नाटक में किया था। डाक्टर रामविलास ने यह भी दिखलाया है कि उनमें व्यंग्य की बहुत परिमार्जित शक्ति थी, इसका सबसे अच्छा नमूना 'यमपुर की यात्रा' नामक उनका व्यंग्यपूर्ण निबंध है। 'तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' आठ दृश्यों का एक छोटा सा प्रहसन है ; इसमें उन्होंने दिखलाया है कि भक्तों के लिए गुसाईं जी को कुछ भी अदेय नहीं है, और गुसाईं जी के लिए भक्तों से कुछ भी अग्राह्य नहीं है।

गुसाईं जी ने भक्तों की सहायता के लिए एक कुटनी को भी तैयार रख छोड़ा है। सुंदर स्त्रियाँ गुसाईं जी की पूजा करने आती हैं; उनकी सेवाओं के लिए एक विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है—'समर्पण'। सेठ रूपचंद एक धनाढ्य व्यक्ति हैं जो धन के बोझ से धर्म-भीरु हो गये हैं। पाप की कमाई पचाने के लिए गुरु का आशीर्वाद आवश्यक है। इस आशीर्वाद के लिए गुसाईं जी सेठ की बहू के समर्पण की माँग करते हैं। सेठ और सेठानी दोनों गुसाईं जी की आज्ञा मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस समाज के वे रत्न हैं, उसमें ऐसी बातों से सम्मान घटने के बदले बढ़ता ही है। गुसाईं जी की मनोकामना पूरी होती, और सेठ रूपचंद को आशीर्वाद भी मिल जाता यदि सेठ जी के पुत्र गोकुल ने बाधा न डाली होती। उसे नयी शिक्षा की हवा लग चुकी है, और यद्यपि माता-पिता उसे सनातन लीक पर ही चलने को बार-बार आदेश देते हैं, फिर भी वह अपने नये विचारों पर दृढ़ रहता है। अंत में सेठ बहू को गुसाईं जी के यहाँ भेज तो देते हैं, लेकिन गोकुल की कुशलता से गुसाईं जी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी वे बराबर प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते हैं और उनकी सहानुभूति नवीन शिक्षित वर्ग के साथ है, यह स्पष्ट हो जाता है। वे स्वयं गुसाईं थे, तथा बहुत ही प्रतिक्रिया-वादी वातावरण में पले थे, इसलिए उनकी प्रगतिशीलता और भी स्तुत्य है।

ठाकुर जगमोहन सिंह : भारतेंदु के प्रभाव से जो लोग हिंदी साहित्य का भंडार भरने में प्रवृत्त हुए, उनमें ठाकुर जगमोहन सिंह का नाम भी ले लेना उचित होगा। उनका जन्म लगभग १८५७ में विजयराघवगढ़ में हुआ और उन्होंने काशी में आ कर शिक्षा प्राप्त की।

श्यामा-स्वप्न : 'श्यामा-स्वप्न' नाम से उनका एक उपन्यास प्राप्त है जो बहुत ही काव्यमय बताया गया है। इसका विभाजन चार यामों के स्वप्न के रूप में हुआ है। इस उपन्यास की कहानी आजकल की दृष्टि से देखी जाय तो बहुत साधारण है, पर उसमें काव्य की संभावनाएँ अधिक थीं। पहला स्वप्न यह है कि कमलाकांत श्यामा नामक युवती के प्रेम में फँस कर जेल पहुँच जाता है। वहाँ उसे जेल की दीवार पर मंत्र लिखा हुआ दीख जाता है और वह पिशाच की सहायता से जेल से बाहर पहुँच जाता है। उसके बाद